



TO VINI AMBORALA



THE POEMS of HENRY VAN DYKE

NOW FIRST COLLECTED AND REVISED WITH MANY HITHERTO UNPUBLISHED



NEW YORK
CHARLES SCRIBNER'S SONS
MCMXI

Copyright, 1911, by Charles Scribner's Sons

Published September, 1911

17-18

UNIV. OF California



PS 3,117 PG 1911

A WORD IN PROSE TO MY GENTLE READER

This book is intended only for you, because you alone will keep it with you long enough to feel its meaning.

Here is gathered and set in order all that I have been permitted to write, as yet, of the poetry that has come to me. I hoped once that it would be more, and feared often that it might be less. The long silent interval between the earlier and the later poems was filled with hard work at the call of duty. I have laboured in the vineyard and fought in the ranks. The youthful plan of a whole life devoted to the art of poetry has not been fulfilled. Instead has come an experience of the power of poetry to cheer and illumine the whole of life.

Metre and rhyme have a deep relation to the rhythm of human emotion, of which I grow more sure the less I can explain it. Some call them a bondage, but the natural harmony of such laws makes for true freedom. Therefore, while using the older metrical forms with love and care, I have also adventured new ones, believing that English poesy has to win a larger liberty in those happy regions which lie between the formal and the formless.

What I have seen and felt and dreamed beyond the horizon of prose, yet ever in the most real world, is here interpreted in verse. And if it speaks to you, gentle reader, it is yours as much as mine

HENRY VAN DYKE.



CONTENTS

| SONGS | TUC | OF | 7 | \mathbf{D} | Ю | RS | | | | | | |
|-------------------------|------|-----|----|--------------|---|----|---|---|---|---|---|------|
| | | | | | | | | | | | | PAGE |
| WHEN TULIPS BLOOM | | • | • | ٠ | ٠ | • | ٠ | ٠ | ٠ | • | • | 3 |
| THE ANGLER'S REVEILLE . | | | | | | ٠ | • | ٠ | ٠ | • | • | 6 |
| THE WHIP-POOR-WILL | | | | | | | | ٠ | | | ٠ | 10 |
| THE SONG-SPARROW | | | | | | | | | | ٠ | | 13 |
| THE RUBY-CROWNED KINGLE | T. | | | | | | | | | | | 15 |
| THE MARYLAND YELLOW-THI | | | | | | | | | | | | 19 |
| THE HERMIT-THRUSH | | | | | | | | | | | | 21 |
| THE VEERY | | | | | | | | | | | | 22 |
| DULCIORA | | | | | | | | | | | | 23 |
| MATINS | | | | | | | | | | | | 24 |
| A NOON SONG | | | | | | | | | | | | 25 |
| THE AFTER-ECHO | | | | | | | | | | | | 27 |
| | | | | | | | | | | | | 29 |
| WINGS OF A DOVE | | | | | | • | • | • | • | • | Ī | 30 |
| IF ALL THE SKIES | | | | | ٠ | • | • | • | • | • | • | • |
| SCHOOL | | | | | • | • | ٠ | • | • | • | • | 31 |
| THE PARTING AND THE COM | IING | GUE | ST | • | • | ٠ | • | • | | • | • | 32 |
| SPRING IN THE NORTH | | | | | | | • | • | | • | • | 34 |
| SPRING IN THE SOUTH | | | | | | | | | | • | | 38 |
| THE FALL OF THE LEAVES | | | | | | | | | | | | 40 |
| INDIAN SUMMER | | | | | | ٠. | | | | | | 42 |
| A NOVEMBER DAISY | | | | | | | | | | | | 43 |
| A SNOW-SONG | | | | | | | | | | | | 45 |
| ALPINE SONNETS | | | | | | | | | | | | 46 |
| POSLIN AND HAWTHORNDEN | | | | | | | | | | | | 49 |

vii

CONTENTS

| | | | | | PAGE |
|--------------------------------------|----|-------|---|--|------|
| LIGHT BETWEEN THE TREES | | | | | 50 |
| THE LILY OF YORROW | | ٠ | ٠ | | 53 |
| ODE-GOD OF THE OPEN AIR | | | | | 55 |
| | | | | | |
| STORIES IN VER | SE | | | | |
| THE TOILING OF FELIX | | | | | 67 |
| VERA | | | | | 82 |
| ANOTHER CHANCE | | | | | 102 |
| A LEGEND OF SERVICE | | | | | 106 |
| THE WHITE BEES | | | | | III |
| NEW YEAR'S EVE | | | | | 119 |
| THE VAIN KING | | | | | 125 |
| THE FOOLISH FIR-TREE | | | | | 131 |
| | | | | | _ |
| PRO PATRIA | | | | | |
| PATRIA | | | | | 139 |
| AMERICA | | | | | 140 |
| THE ANCESTRAL DWELMINGS | | | | | 141 |
| HUDSON'S LAST VOYAGE | | | | | 144 |
| | | | | | 152 |
| A BALLAD OF CLAREMONT HILL | | | | | 154 |
| URBS CORONATA | | | | | 157 |
| | | | | | 159 |
| SICILY, DECEMBER, 1908 | | 1 | | | 161 |
| JEANNE D'ARC | | | | | 162 |
| NATIONAL MONUMENTS | | | | | 164 |
| THE MONUMENT OF FRANCIS MAKEMIE . | | | | | 165 |
| THE STATUE OF SHERMAN BY ST. GAUDENS | | | | | 166 |
| "AMERICA FOR ME" | | | | | 167 |
| THE BUILDERS | | | | | 160 |
| SPIRIT OF THE EVERLASTING BOY | | | | | 183 |
| WHO FOLLOW THE FLAG | | | | | 191 |
| | | | | | |

| | | | C | Or | ИΙ | LI | N 1 | S | | | | | | | | ıx |
|-------------------|------|----|----|------------|----|-----|-----|----|-----|----|----|----|----|---|---|------|
| | IN | P | RA | AIS | E | O | F | РО | EI | ΓS | | | | | | PAGE |
| MOTHER EARTH . | | | | | | | | | | | | | | | | 205 |
| MILTON | | | Ċ | | | | | | | | | | | | | 207 |
| WORDSWORTH | | | | | | | | | | | | | | | | 210 |
| KEATS | | | | | | | | | | | | | | | | 211 |
| SHELLEY | | | | | | | | | | | | | | | | 212 |
| ROBERT BROWNING | | | | | | | | | | | | | | | | 213 |
| TENNYSON | | | | | | | | | | | | | | | | 214 |
| "IN MEMORIAM". | | | | | | | | | | | | | | | | 215 |
| VICTOR HUGO | | | | | | | | | | | | | | | | 216 |
| LONGFELLOW | | | | | | | | | | | | | | | | 219 |
| THOMAS BAILEY ALI | DRIC | н | | | | | | | | | | | | | | 223 |
| EDMUND CLARENCE | ST | ED | MA | N | | | | | | | | | | | | 225 |
| TO JAMES WHITCOM | BB | IL | ΕY | | | | | | | | | | | | | 227 |
| RICHARD WATSON G | ILDI | ER | | | | | | | | | | | | | | 228 |
| | | | | | | | | | | | | | | | | |
| | | | | Ν | 1U | SIC | C | | | | | | | | | |
| MUSIC | | | | | | | | | | | | | | | | 231 |
| MASTER OF MUSIC | • | | • | • | • | • | • | ٠ | • | • | • | | • | • | • | 246 |
| TO A YOUNG GIRL | CIN | - | - | | • | | | • | | • | • | | | | • | 248 |
| THE PIPES O' PAN | DIII | GI | 10 | • | ٠ | ٠ | • | • | • | • | • | • | • | • | • | 249 |
| THE OLD FLUTE . | • | • | • | • | • | • | • | • | ٠ | • | • | • | • | • | • | 250 |
| THE OLD LEGIE . | • | • | • | • | • | • | • | | · | · | • | ٠ | ٠ | • | • | -30 |
| | | | | | | | | | | | | | | | | |
| LYRICS | O | F | L | A B | ΟŪ | JR | A | ND |)] | RO | MA | 1N | CE | | | |
| A MILE WITH ME | | | | | | | | | | | | | | | | 255 |
| THE THREE BEST T | HIN | GS | | | | | | | | | | | | | | 256 |
| RELIANCE | | | | . " | ۰. | | | | | | | | | | | 259 |
| DOORS OF DARING | | | | | | | | | | | | | | | | 260 |
| A HOME SONG | | | | | | | | | | | | | | | | 261 |
| THE CHILD IN THE | GA | RD | EN | | | | | | | | | | | | | 262 |

TOTAL

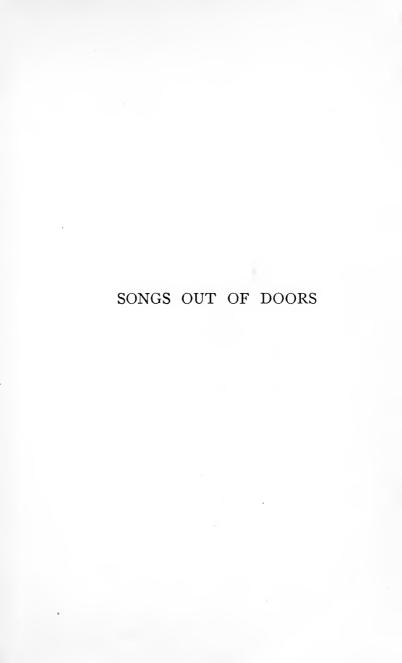
| | - 11 | | | | | | | | | | PAGE |
|---------------------------|------|------|------|----|----|-----|----|----|---|---|------|
| LOVE'S REASON | | | | | | | | | | | 263 |
| PORTRAIT AND REALITY . | | | | | | | | | | | 264 |
| THE ECHO IN THE HEART | | | | | | | | | | | 265 |
| "UNDINE" | | | | | | | | | | | 266 |
| "RENCONTRE" | | | | | | | | | | | 267- |
| LOVE IN A LOOK | | | | | | | | | | | 268 |
| MY APRIL LADY | | | | | | | | | | | 269 |
| A LOVER'S ENVY | | | | | | | | | | | 271 |
| FIRE-FLY CITY | | | | | | | | | | | 272 |
| THE GENTLE TRAVELLER . | | | | | | | | | | | 273 |
| NEPENTHE | | | | | | | | | | | 274 |
| DAY AND NIGHT | | | | | | | | | | | 276 |
| HESPER | | | | | | | | | | | 277 |
| ARRIVAL | | | | | | | | | | | 278 |
| DEPARTURE | | | | | | | | | | | 279 |
| THE BLACK BIRDS | | | | | | | | | | | 280 |
| WITHOUT DISGUISE | | | | | | | | | | | 284 |
| AN HOUR | | | | | | | | | | | 285 |
| "RAPPELLE-TOI" | | | | | | | | | | | 286 |
| EIGHT ECHOES FROM THE POP | MS C | F AU | GUS' | TE | AN | GEI | LI | ER | | | 288 |
| LOVE'S NEARNESS | | | | | | | | | | | 298 |
| TWO SONGS OF HEINE | | | | | | | | | | | 299 |
| THE RIVER OF DREAMS | | | | | | | | | | | 300 |
| | | | | | | | | | | | |
| SONGS OF H | EAR | тн | AN | D | ΑT | т | AR | | | | |
| " | | | 111 | _ | | | | | | | |
| "LITTLE BOATIE" | - | | ٠ | ٠ | • | • | • | • | • | ٠ | 307 |
| A MOTHER'S BIRTHDAY | • • | | • | • | • | • | • | • | • | ٠ | 309 |
| SANTA CHRISTINA | • • | | • | • | • | • | • | • | • | ٠ | 311 |
| RENDEZVOUS | | | • | • | • | • | • | | • | • | 314 |
| | | | • | ٠ | • | • | • | • | • | • | 315 |
| TRANSFORMATION | | | • | • | | • | | • | | • | 316 |
| THE WIND OF SORROW | | | | | | | | | | | 317 |

| | C | O | T | El | IV | `S | | | | | | | | xi |
|------------------------|----|----|----|----|----|----|----|---|---|-----|----|----|----|------|
| | | | | | | | | | | | | | | PAGE |
| HIDE AND SEEK | • | | | | | | | | | | | | | 318 |
| AUTUMN IN THE GARDEN | • | | | | | | | | | | | | | 320 |
| THE MESSAGE | | | | | | | | | | | | | | 322 |
| DULCIS MEMORIA | | | | | | | | | | | | | | |
| THE WINDOW | | | | | | | | | | | | | | 325 |
| PEACE | | | | | | | | | | | | | | |
| THE BARGAIN | | | | | | | | | | | | | | 328 |
| BITTER-SWEET | | | | | | | | | | | | | | |
| TO THE CHILD JESUS . | | | | | | | | | | | | | | |
| SONG OF A PILGRIM SOU | L | | | | | | | | | | | | | 331 |
| HYMN OF JOY | | | | | | | | | | | | | | 332 |
| ODE TO PEACE | | | | | | | | | | | | | | 334 |
| | | | | | | | | | | | | | | |
| INSCRIPTIONS, | GI | RE | EΤ | IN | GS | 5, | AN | D | E | PIC | GR | AN | ſS | |
| FOR KATRINA'S SUN-DIAL | | | | | | | | | | | | | | 341 |
| FOR KATRINA'S WINDOW | | | | | | | | | | | | | | |
| FOR THE FRIENDS AT HU | | | | | | | | | | | | | | |
| THE SUN-DIAL AT MORVE | | | | | | | | | | | | | | |
| THE SUN-DIAL AT WELLS | | | | | | | | | | | | | | _ |
| TO MARK TWAIN | | | | | | | | | | | | | | 0 |
| STARS AND THE SOUL . | | | | | | | | | | | | | | |
| TO JULIA MARLOWE | | | | | | | | | | | | | | |
| TO JOSEPH JEFFERSON . | | | | | | | | | | | | | | |
| THE MOCKING-BIRD | | | | | | | | | | | | | | |
| THE EMPTY QUATRAIN . | | | | | | | | | | | | | | |
| PAN LEARNS MUSIC | | | | | | | | | | | | | | |
| THE VALLEY OF VAIN V | | | | | | | | | | | | | | ~~ |
| THE SHEPHERD OF NYME | | | | | | | | | | | | | | |
| ECHOES FROM THE GREE | | | | | | | | | | | | | | |
| ONE WORLD | | | | | | | | | | | | | | - |
| JOY AND DUTY | | | | | | | | | | | | | | |
| THE PRISON AND THE AND | | | | | | | | | | | | | | 358 |
| | | | | | | | | | | | | | | |

| | ٠ | ٠ | |
|---|---|---|--|
| v | 1 | 1 | |
| Λ | 1 | • | |

CONTENTS

| | | | | | | | | | | | | | PAGE |
|-----------------|------|-----|-----|-----|----|---|---|----|----|----|--|--|-------------|
| THE WAY | | | | | | | | | | | | | 358 |
| LOVE AND LIGHT | | | | | | | | | | | | | 359 |
| THE ARROW . | | | | | | | | | | | | | 359 |
| FOUR THINGS . | | | | | | | | | | | | | 360 |
| THE GREAT RIVER | ٤. | | | | | | | | | | | | 360 |
| | | | | | | | | | | | | | |
| | V | VA? | YF. | AR | IN | G | P | SA | LN | ſS | | | |
| THE DISTANT ROA | D. | | | | | | | | | | | | 363 |
| THE WELCOME TE | NT | | | | | | | | | | | | 365 |
| THE GREAT CITIE | s. | | | | | | | | | | | | 367 |
| THE FRIENDLY TI | REES | S . | | | | | | | | | | | 369 |
| THE BROKEN SWO | RD | | | | | | | | | | | | 371 |
| THE UNSEEN ALT | AR | | | | | | | | | | | | 372 |
| THE PATHWAY OF | RI | VEF | S | | | | | | | | | | 374 |
| THE GLORY OF R | UINS | S . | | | | | | | | | | | 376 |
| THE TRIBE OF TH | HE I | HEL | PE | RS | | | | | | | | | 377 |
| THE GOOD TEACH | ER | | | | | | | | | | | | 378 |
| THE CAMP-FIRES | OF | ΜY | FR | IEN | ND | | | | | | | | 379 |
| THE HOUSE OF | Rim | MON | Ι. | | | | | | | | | | 381 |
| INDEX OF FIRST | Lin | NES | | | | | | | | | | | ⊿6 т |





WHEN TULIPS BLOOM

T

When tulips bloom in Union Square,
And timid breaths of vernal air
Go wandering down the dusty town,
Like children lost in Vanity Fair;

When every long, unlovely row
Of westward houses stands aglow,
And leads the eyes to sunset skies
Beyond the hills where green trees grow;

Then weary seems the street parade,
And weary books, and weary trade:
I'm only wishing to go a-fishing;
For this the month of May was made.

II

I guess the pussy-willows now
Are creeping out on every bough
Along the brook; and robins look
For early worms behind the plough.

The thistle-birds have changed their dun,
For yellow coats, to match the sun;
And in the same array of flame
The Dandelion Show 's begun.

The flocks of young anemones

Are dancing round the budding trees:

Who can help wishing to go a-fishing
In days as full of joy as these?

III

I think the meadow-lark's clear sound Leaks upward slowly from the ground, While on the wing the bluebirds ring Their wedding-bells to woods around.

The flirting chewink calls his dear
Behind the bush; and very near,
Where water flows, where green grass grows.
Song-sparrows gently sing, "Good cheer."

And, best of all, through twilight's calm
The hermit-thrush repeats his psalm.
How much I 'm wishing to go a-fishing
In days so sweet with music's balm!

IV

'Tis not a proud desire of mine;
I ask for nothing superfine;
No heavy weight, no salmon great,
To break the record, or my line.

Only an idle little stream,
Whose amber waters softly gleam,
Where I may wade, through woodland shade,
And cast the fly, and loaf, and dream:

Only a trout or two, to dart
From foaming pools, and try my art:
'Tis all I'm wishing—old-fashioned fishing,
And just a day on Nature's heart.

1894.

THE ANGLER'S REVEILLE

What time the rose of dawn is laid across the lips of night, And all the little watchman-stars have fallen asleep in light, 'Tis then a merry wind awakes, and runs from tree to tree, And borrows words from all the birds to sound the reveille.

This is the carol the Robin throws
Over the edge of the valley;
Listen how boldly it flows,
Sally on sally:

Tirra-lirra,
Early morn,
New born!
Day is near,
Clear, clear.
Down the river
All a-quiver,
Fish are breaking;
Time for waking.
Tup, tup, tup!
Do you hear?
All clear—
Wake up!

The phantom flood of dreams has ebbed and vanished with the dark,

And like a dove the heart forsakes the prison of the ark; Now forth she fares thro' friendly woods and diamond-fields of dew,

While every voice cries out "Rejoice!" as if the world were new.

This is the ballad the Bluebird sings,
Unto his mate replying,
Shaking the tune from his wings
While he is flying:
Surely, surely, surely,

Surely, surely, surely,
Life is dear
Even here.
Blue above,
You to love,
Purely, purely, purely.

There 's wild azalea on the hill, and iris down the dell, And just one spray of lilac still abloom beside the well; The columbine adorns the rocks, the laurel buds grow pink, Along the stream white arums gleam, and violets bend to drink.

> This is the song of the Yellowthroat, Fluttering gaily beside you;

,

Hear how each voluble note Offers to guide you:

Which way, sir?
I say, sir,
Let me teach you,
I beseech you!
Are you wishing
Jolly fishing?
This way, sir!
I'll teach you.

Then come, my friend, forget your foes, and leave your fears behind,

And wander forth to try your luck, with cheerful, quiet mind; For be your fortune great or small, you take what God will give,

And all the day your heart will say, "'Tis luck enough to live."

This is the song the Brown Thrush flings
Out of his thicket of roses;
Hark how it bubbles and rings,
Mark how it closes:

Luck, luck,
What luck?
Good enough for me,
I'm alive, you see:

Sun shining,
No repining;
Never borrow
Idle sorrow;
Drop it!
Cover it up!
Hold your cup!
Joy will fill it,
Don't spill it,
Steady, be ready,
Good luck!

1899.

THE WHIP-POOR-WILL

Do you remember, father,—
It seems so long ago,—
The day we fished together
Along the Pocono?
At dusk I waited for you,
Beside the lumber-mill,
And there I heard a hidden bird
That chanted, "whip-poor-will,"
"Whippoorwill! whippoorwill!"
Sad and shrill,—"whippoorwill!"

The place was all deserted;
The mill-wheel hung at rest;
The lonely star of evening
Was throbbing in the west;
The veil of night was falling;
The winds were folded still;
And everywhere the trembling air
Re-echoed "whip-poor-will!"
"Whippoorwill! whippoorwill!"
Sad and shrill,—"whippoorwill!"

You seemed so long in coming,
I felt so much alone;
The wide, dark world was round me,
And life was all unknown;
The hand of sorrow touched me,
And made my senses thrill
With all the pain that haunts the strain
Of mournful whip-poor-will.
"Whippoorwill! whippoorwill!"
Sad and shrill,—"whippoorwill!"

What knew I then of trouble?
An idle little lad,
I had not learned the lessons
That make men wise and sad.
I dreamed of grief and parting,
And something seemed to fill
My heart with tears, while in my ears
Resounded "whip-poor-will."
"Whippoorwill! whippoorwill!"
Sad and shrill,—"whippoorwill!"

'Twas but a cloud of sadness,
That lightly passed away;
But I have learned the meaning
Of sorrow, since that day.

For nevermore at twilight,

Beside the silent mill,

I'll wait for you, in the falling dew,

And hear the whip-poor-will.

"Whippoorwill! whippoorwill!"

Sad and shrill,—"whippoorwill!"

But if you still remember,

In that fair land of light,

The pains and fears that touch us

Along this edge of night,

I think all earthly grieving,

And all our mortal ill,

To you must seem like a sad boy's dream,

Who hears the whip-poor-will.

"Whippoorwill! whippoorwill!"

A passing thill,—"whippoorwill!"

1894.

THE SONG-SPARROW

There is a bird I know so well,

It seems as if he must have sung
Beside my crib when I was young;
Before I knew the way to spell

The name of even the smallest bird,

His gentle-joyful song I heard.

Now see if you can tell, my dear,

What bird it is that, every year,

Sings "Sweet—sweet—very merry cheer."

He comes in March, when winds are strong,
And snow returns to hide the earth;
But still he warms his heart with mirth,
And waits for May. He lingers long
While flowers fade; and every day
Repeats his small, contented lay;
As if to say, we need not fear
The season's change, if love is here
With "Sweet—sweet—sweet—very merry cheer."

He does not wear a Joseph's-coat
Of many colours, smart and gay;
His suit is Quaker brown and gray,
With darker patches at his throat.

And yet of all the well-dressed throng
Not one can sing so brave a song.

It makes the pride of looks appear
A vain and foolish thing, to hear
His "Sweet—sweet—very merry cheer."

A lofty place he does not love,
But sits by choice, and well at ease,
In hedges, and in little trees
That stretch their slender arms above
The meadow-brook; and there he sings
Till all the field with pleasure rings;
And so he tells in every ear,
That lowly homes to heaven are near
In Sweet—sweet—very merry cheer."

I like the tune, I like the words;
They seem so true, so free from art,
So friendly, and so full of heart,
That if but one of all the birds
Could be my comrade everywhere,
My little brother of the air,
I'd choose the song-sparrow, my dear,
Because he 'd bless me, every year,
With "Sweet—sweet—very merry cheer."
1895.

THE RUBY-CROWNED KINGLET

Ι

WHERE 's your kingdom, little king?
Where the land you call your own,
Where your palace and your throne?
Fluttering lightly on the wing
Through the blossom-world of May,
Whither lies your royal way,
Little king?

Far to northward lies a land
Where the trees together stand
Closely as the blades of wheat
When the summer is complete.
Rolling like an ocean wide
Over vale and mountain side,
Balsam, hemlock, spruce and pine,—
All those mighty trees are mine.
There's a river flowing free,—
All its waves belong to me.
There's a lake so clear and bright
Stars shine out of it all night;
Rowan-berries round it spread
Like a belt of coral red.

Never royal garden planned Fair as my Canadian land! There I build my summer nest, There I reign and there I rest, While from dawn to dark I sing, Happy kingdom! Lucky king!

TT

Back again, my little king!

Is your happy kingdom lost

To the rebel knave, Jack Frost?

Have you felt the snow-flakes sting?

Houseless, homeless in October,

Whither now? Your plight is sober

Exiled king!

Far to southward lie the regions
Where my loyal flower-legions
Hold possession of the year,
Filling every month with cheer.
Christmas wakes the winter rose;
New Year daffodils unclose;
Yellow jasmine through the wood
Flows in February flood,
Dropping from the tallest trees
Golden streams that never freeze.

Thither now I take my flight Down the pathway of the night, Till I see the southern moon Glisten on the broad lagoon, Where the cypress' dusky green, And the dark magnolia's sheen, Weave a shelter round my home. There the snow-storms never come: There the bannered mosses gray Like a curtain gently sway, Hanging low on every side Round the covert where I bide, Till the March azalea glows, Royal red and heavenly rose, Through the Carolina glade Where my winter home is made. There I hold my southern court, Full of merriment and sport: There I take my ease and sing, Happy kingdom! Lucky king!

III

Little boaster, vagrant king,
Neither north nor south is yours,
You've no kingdom that endures!
Wandering every fall and spring,

With your ruby crown so slender, Are you only a Pretender, Landless king?

Never king by right divine
Ruled a richer realm than mine!
What are lands and golden crowns,
Armies, fortresses and towns,
Jewels, sceptres, robes and rings,—
What are these to song and wings?
Everywhere that I can fly,
There I own the earth and sky;
Everywhere that I can sing.
There I'm happy as a king.

1900.

THE MARYLAND YELLOW-THROAT

When May bedecks the naked trees
With tassels and embroideries,
And many blue-eyed violets beam
Along the edges of the stream,
I hear a voice that seems to say,
Now near at hand, now far away,
"Witchery—witchery—witchery."

An incantation so serene,
So innocent, befits the scene:
There 's magic in that small bird's note—
See, there he flits—the Yellow-throat;
A living sunbeam, tipped with wings,
A spark of light that shines and sings
"Witchery—witchery—witchery."

You prophet with a pleasant name, If out of Mary-land you came, You know the way that thither goes Where Mary's lovely garden grows: Fly swiftly back to her, I pray, And try to call her down this way, "Witchery—witchery—witchery!"

Tell her to leave her cockle-shells,
And all her little silver bells
That blossom into melody,
And all her maids less fair than she.
She does not need these pretty things,
For everywhere she comes, she brings
"Witchery—witchery—witchery!"

The woods are greening overhead,
And flowers adorn each mossy bed;
The waters babble as they run—
One thing is lacking, only one:
If Mary were but here to-day,
I would believe your charming lay,
"Witchery—witchery vitchery!"

Along the shady road I look—
Who's coming now across the brook?
A woodland maid, all robed in white—
The leaves dance round her with delight,
The stream laughs out beneath her feet—
Sing, merry bird, the charm's complete,
"Witchery—witchery—witchery!"
1895.

THE HERMIT THRUSH

O WONDERFUL! How liquid clear
The molten gold of that ethereal tone,
Floating and falling through the wood alone,
A hermit-hymn poured out for God to hear!

O holy, holy, holy! Hyaline,
Long light, low light, glory of eventide!
Love far away, far up,—up,—love divine!
Little love, too, for ever, ever near,
Warm love, earth love, tender love of mine,
In the leafy dark where you hide,
You are mine,—mine!

Ah, my belovèd, do you feel with me
The hidden virtue of that melody,
The rapture and the purity of love,
The heavenly joy that can not find the word?
Then, while we wait again to hear the bird,
Come very near to me, and do not move,—
Now, hermit of the woodland, fill anew
The cool, green cup of air with harmony,
And we will drink the wine of love with you.

May, 1908.

THE VEERY

THE moonbeams over Arno's vale in silver flood were pouring, When first I heard the nightingale a long-lost love deploring. So passionate, so full of pain, it sounded strange and eerie; I longed to hear a simpler strain,—the wood notes of the veery.

The laverock sings a bonny lay above the Scottish heather; It sprinkles down from far away like light and love together; He drops the golden notes to greet his brooding mate, his dearie; I only know one song more sweet,—the vespers of the veery.

In English gardens, green and bright and full of fruity treasure, I heard the blackbird with delight repeat his merry measure: The ballad was a pleasant one, the tune was loud and cheery, And yet, with every setting sun, I listened for the veery.

But far away, and far away, the tawny thrush is singing; New England woods, at close of day, with that clear chant are ringing:

And when my light of life is low, and heart and flesh are weary, I fain would hear, before I go, the wood-notes of the veery.

1895.

DULCIORA

A TEAR that trembles for a little while Upon the trembling eyelid, till the world Wavers within its circle like a dream, Holds more of meaning in its narrow orb Than all the distant landscape that it blurs.

A smile that hovers round a mouth beloved, Like the faint pulsing of the Northern Light, And grows in silence to an amber dawn, Born in the sweetest depths of trustful eyes, Is dearer to the soul than sun or star.

A joy that falls into the hollow heart
From some far-lifted height of love unseen,
Unknown, makes a more perfect melody
Than hidden brooks that murmur in the dusk,
Or fall athwart the cliff with wavering gleam.

Ah, not for their own sake are earth and sky And the fair ministries of Nature dear, But as they set themselves unto the tune That fills our life; as light mysterious Flows from within and glorifies the world.

For so a common wayside blossom, touched With tender thought, assumes a grace more sweet Than crowns the royal lily of the South; And so a well-remembered perfume seems The breath of one who breathes in Paradise.

1872.

MATINS

FLOWERS rejoice when night is done, Lift their heads to greet the sun; Sweetest looks and odours raise, In a silent hymn of praise.

So my heart would turn away From the darkness to the day; Lying open in God's sight As a flower adores the light.

A NOON SONG

THERE are songs for the morning and songs for the night,
For sunrise and sunset, the stars and the moon;
But who will give praise to the fulness of light,
And sing us a song of the glory of noon?
Oh, the high noon, the clear noon,
The noon with golden crest;
When the blue sky burns, and the great sun turns
With his face to the way of the west!

How swiftly he rose in the dawn of his strength;

How slowly he crept as the morning wore by;

Ah, steep was the climbing that led him at length

To the height of his throne in the wide summer sky.

Oh, the long toil, the slow toil,

The toil that may not rest,

Till the sun looks down from his journey's crown,

To the wonderful way of the west!

Then a quietness falls over meadow and hill,

The wings of the wind in the forest are furled,

The river runs softly, the birds are all still,

The workers are resting all over the world.

Oh, the good hour, the kind hour,

The hour that calms the breast!

Little inn half-way on the road of the day,

Where it follows the turn to the west!

There 's a plentiful feast in the maple-tree shade,

The lilt of a song to an old-fashioned tune,

The talk of a friend, or the kiss of a maid,

To sweeten the cup that we drink to the noon.

Oh, the deep noon, the full noon,

Of all the day the best!

When the blue sky burns, and the great sun turns

To his home by the way of the west

1906.

THE AFTER-ECHO

How long the echoes love to play Around the shore of silence, as a wave Retreating circles down the sand! One after one, with sweet delay, The mellow sounds that cliff and island gave, Have lingered in the crescent bay, Until, by lightest breezes fanned, They float far off beyond the dying day And leave it still as death. But hark,-Another singing breath Comes from the edge of dark; A note as clear and slow As falls from some enchanted bell, Or spirit, passing from the world below, That whispers back, Farewell.

So in the heart,
When, fading slowly down the past,
Fond memories depart,
And each that leaves it seems the last;

Long after all the rest are flown, Returns a solitary tone,— The after-echo of departed years,— And touches all the soul to tears.

1871.

WINGS OF A DOVE

Ι

At sunset, when the rosy light was dying
Far down the pathway of the west,
I saw a lonely dove in silence flying,
To be at rest.

Pilgrim of air, I cried, could I but borrow
Thy wandering wings, thy freedom blest,
I'd fly away from every careful sorrow,
And find my rest.

Ħ

But when the filmy veil of dusk was falling,
Home flew the dove to seek his nest,
Deep in the forest where his mate was calling
To love and rest.

Peace, heart of mine! no longer sigh to wander;
Lose not thy life in barren quest.
There are no happy islands over yonder;
Come home and rest.
1874.

IF ALL THE SKIES

If all the skies were sunshine,
Our faces would be fain
To feel once more upon them
The cooling plash of rain.

If all the world were music,
Our hearts would often long
For one sweet strain of silence,
To break the endless song.

If life were always merry,
Our souls would seek relief,
And rest from weary laughter
In the quiet arms of grief.

SCHOOL

I PUT my heart to school
In the world where men grow wise:
"Go out," I said, "and learn the rule;
"Come back when you win a prize."

My heart came back again:
"Now where is the prize?" I cried.—
"The rule was false, and the prize was pain,
"And the teacher's name was Pride."

I put my heart to school
In the woods where veeries sing
And brooks run clear and cool,
In the fields where wild flowers spring.

"And why do you stay so long,
"My heart, and where do you roam?"
The answer came with a laugh and a song,—
"I find this school is home."

April, 1901.

THE PARTING AND THE COMING GUEST

Who, peering through the window-pane
At nightfall, under sleet and rain
Saw the old graybeard totter by?
Who listened to his parting sigh,
The sobbing of his feeble breath,
His whispered colloquy with Death,
And when his all of life was done
Stood near to bid a last good-bye?
Of all his former friends not one
Saw the forsaken Winter die.

Who welcomed in the maiden Spring?

Who heard her footfall, swift and light
As fairy-dancing in the night?

Who guessed what happy dawn would bring
The flutter of her blue-bird's wing,
The blossom of her mayflower-face
To brighten every shady place?
One morning, down the village street,
"Oh, here am I," we heard her sing,—
And none had been awake to greet
The coming of the maiden Spring.

But look, her violet eyes are wet With bright, unfallen, dewy tears; And in her song my fancy hears A note of sorrow trembling yet. Perhaps, beyond the town, she met Old Winter as he limped away To die forlorn, and let him lay His weary head upon her knee, And kissed his forehead with regret For one so gray and lonely,-see, Her eyes with tender tears are wet.

And so, by night, while we were all at rest, I think the coming sped the parting guest. 1873.

SPRING IN THE NORTH

Ι

AH, who will tell me, in these leaden days, Why the sweet Spring delays, And where she hides,—the dear desire Of every heart that longs For bloom, and fragrance, and the ruby fire Of maple-buds along the misty hills, And that immortal call which fills The waiting wood with songs? The snow-drops came so long ago, It seemed that Spring was near! But then returned the snow With biting winds, and earth grew sere, And sullen clouds drooped low To veil the sadness of a hope deferred: Then rain, rain, rain, incessant rain Beat on the window-pane, Through which I watched the solitary bird That braved the tempest, buffeted and tossed With rumpled feathers down the wind again. Oh, were the seeds all lost When winter laid the wild flowers in their tomb? I searched the woods in vain
For blue hepaticas, and trilliums white,
And trailing arbutus, the Spring's delight,
Starring the withered leaves with rosy bloom.

But every night the frost

To all my longing spoke a silent nay,
And told me Spring was far away.

Even the robins were too cold to sing,
Except a broken and discouraged note,—
Only the tuneful sparrow, on whose throat
Music has put her triple finger-print,
Lifted his head and sang my heart a hint,—
"Wait, wait, wait! oh, wait a while for Spring!"

II

But now, Carina, what divine amends

For all delay! What sweetness treasured up,
What wine of joy that blends

A hundred flavours in a single cup,
Is poured into this perfect day!

For look, sweet heart, here are the early flowers
That lingered on their way,
Thronging in haste to kiss the feet of May,
Entangled with the bloom of later hours,—
Anemones and cinque-foils, violets blue
And white, and iris richly gleaming through

The grasses of the meadow, and a blaze Of butter-cups and daisies in the field, Filling the air with praise, As if a chime of golden bells had pealed! The frozen songs within the breast Of silent birds that hid in leafless woods, Melt into rippling floods Of gladness unrepressed. Now oriole and blue-bird, thrush and lark, Warbler and wren and vireo, Mingle their melody; the living spark Of Love has touched the fuel of desire, And every heart leaps up in singing fire. It seems as if the land Were breathing deep beneath the sun's caress, Trembling with tenderness, While all the woods expand, In shimmering clouds of rose and gold and green. To veil a joy too sacred to be seen.

III

Come, put your hand in mine,
True love, long sought and found at last,
And lead me deep into the Spring divine
That makes amends for all the wintry past.

For all the flowers and songs I feared to miss Arrive with you;

And in the lingering pressure of your kiss My dreams come true;

And in the promise of your generous eyes
I read the mystic sign
Of joy more perfect made
Because so long delayed,

And bliss enhanced by rapture of surprise.

Ah, think not early love alone is strong;

He loveth best whose heart has learned to wait:

Dear messenger of Spring that tarried long,

You 're doubly dear because you come so late.

SPRING IN THE SOUTH

Now in the oak the sap of life is welling,

Tho' to the bough the rusty leafage clings;

Now on the elm the misty buds are swelling;

Every little pine-wood grows alive with wings;

Blue-jays are fluttering, yodeling and crying,

Meadow-larks sailing low above the faded grass,

Red-birds whistling clear, silent robins flying,—

Who has waked the birds up? What has come to pass?

Last year's cotton-plants, desolately bowing,
Tremble in the March-wind, ragged and forlorn;
Red are the hillsides of the early ploughing,
Gray are the lowlands, waiting for the corn.
Earth seems asleep, but she is only feigning;
Deep in her bosom thrills a sweet unrest;
Look where the jasmine lavishly is raining
Jove's golden shower into Danäe's breast!

Now on the plum-tree a snowy bloom is sifted, Now on the peach-tree, the glory of the rose, Far o'er the hills a tender haze is drifted, Full to the brim the yellow river flows. Dark cypress boughs with vivid jewels glisten,
Greener than emeralds shining in the sun.
Whence comes the magic? Listen, sweetheart, listen!
The mocking-bird is singing: Spring is begun.

Hark, in his song no tremor of misgiving!

All of his heart he pours into his lay,—

"Love, love, love, and pure delight of living:

Winter is forgotten: here's a happy day!"

Fair in your face I read the flowery presage,

Snowy on your brow and rosy on your mouth:

Sweet in your voice I hear the season's message,—

Love, love, love, and Spring in the South!

1904.

THE FALL OF THE LEAVES

1

In warlike pomp, with banners flowing,The regiments of autumn stood:I saw their gold and scarlet glowingFrom every hillside, every wood.

Above the sea the clouds were keeping Their secret leaguer, gray and still; They sent their misty vanguard creeping With muffled step from hill to hill.

All day the sullen armies drifted
Athwart the sky with slanting rain;
At sunset for a space they lifted,
With dusk they settled down again

II

At dark the winds began to blow
With mutterings distant, low;
From sea and sky they called their strength,
Till with an angry, broken roar,
Like billows on an unseen shore,
Their fury burst at length.

I heard through the night
The rush and the clamour;
The pulse of the fight
Like blows of 'Thor's hammer;
The pattering flight
Of the leaves, and the anguished
Moan of the forest vanquished.

At daybreak came a gusty song:
"Shout! the winds are strong.
The little people of the leaves are fled.
Shout! The Autumn is dead!"

Ш

The storm is ended! The impartial sun Laughs down upon the battle lost and won, And crowns the triumph of the cloudy host In rolling lines retreating to the coast.

But we, fond lovers of the woodland shade, And grateful friends of every fallen leaf, Forget the glories of the cloud-parade, And walk the ruined woods in quiet grief.

For ever so our thoughtful hearts repeat On fields of triumph dirges of defeat; And still we turn on gala-days to tread Among the rustling memories of the dead. 1874.

INDIAN SUMMER

A SILKEN curtain veils the skies,
And half conceals from pensive eyes
The bronzing tokens of the fall;
A calmness broods upon the hills,
And summer's parting dream distils
A charm of silence over all.

The stacks of corn, in brown array,
Stand waiting through the tranquil day,
Like tattered wigwams on the plain;
The tribes that find a shelter there
Are phantom peoples, forms of air,
And ghosts of vanished joy and pain.

At evening when the crimson crest
Of sunset passes down the West,
I hear the whispering host returning;
On far-off fields, by elm and oak,
I see the lights, I smell the smoke,—
The Camp-fires of the Past are burning.

Tertius and Henry van Dyke.

November, 1903.

A NOVEMBER DAISY

AFTERTHOUGHT of summer's bloom!
Late arrival at the feast,
Coming when the songs have ceased
And the merry guests departed,
Leaving but an empty room,
Silence, solitude, and gloom!
Are you lonely, heavy-hearted;
You, the last of all your kind,
Nodding in the autumn wind;
Now that all your friends are flown,
Blooming late and all alone?

Nay, I wrong you, little flower,
Reading mournful mood of mine
In your looks, that give no sign
Of a spirit dark and cheerless!
You possess the heavenly power
That rejoices in the hour.
Glad, contented, free, and fearless.
Lift a sunny face to heaven
When a sunny day is given!
Make a summer of your own,
Blooming late and all alone!

Once the daisies gold and white
Sea-like through the meadow rolled:
Once my heart could hardly hold
All its pleasures. I remember,
In the flood of youth's delight
Separate joys were lost to sight.
That was summer! Now November
Sets the perfect flower apart;
Gives each blossom of the heart
Meaning, beauty, grace unknown,—
Blooming late and all alone.

November, 1899

A SNOW-SONG

Does the snow fall at sea?
Yes, when the north winds blow,
When the wild clouds fly low,
Out of each gloomy wing,
Silently glimmering,
Over the stormy sea
Falleth the snow.

Does the snow hide the sea?

Nay, on the tossing plains
Never a flake remains;
Drift never resteth there;
Vanishing everywhere,
Into the hungry sea
Falleth the snow.

What means the snow at sea?

Whirled in the veering blast,
Thickly the flakes drive past;
Each like a childish ghost
Wavers, and then is lost;
In the forgetful sea
Fadeth the snow.

1875.

ALPINE SONNETS

Ι

THE GLACIER

At dawn in silence moves the mighty stream,

The silver-crested waves no murmur make;
But far away the avalanches wake
The rumbling echoes, dull as in a dream;
Their momentary thunders, dying, seem
To fall into the stillness, flake by flake,
And leave the hollow air with naught to break
The frozen spell of solitude supreme.

At noon unnumbered rills begin to spring
Beneath the burning sun, and all the walls
Of all the ocean-blue crevasses ring
With liquid lyrics of their waterfalls;
As if a poet's heart had felt the glow
Of sovereign love, and song began to flow.
Zermatt 1872.

II

THE SNOW-FIELD

White Death had laid his pall upon the plain,
And crowned the mountain-peaks like monarchs dead;
The vault of heaven was glaring overhead
With pitiless light that filled my eyes with pain;
And while I vainly longed, and looked in vain
For sign or trace of life, my spirit said,
"Shall any living thing that dares to tread
This royal lair of Death escape again?"

But even then I saw before my feet
A line of pointed footprints in the snow:
Some roving chamois, but an hour ago,
Had passed this way along his journey fleet,
And left a message from a friend unknown
To cheer my pilgrim-heart no more alone.
Zermatt, 1872.

Ш

MOVING BELLS

I LOVE the hour that comes, with dusky hair
And dewy feet, along the Alpine dells
To lead the cattle forth. A thousand bells
Go chiming after her across the fair
And flowery uplands, while the rosy flare
Of sunset on the snowy mountain dwells,
And valleys darken, and the drowsy spells
Of peace are woven through the purple air.

Dear is the magic of this hour: she seems. To walk before the dark by falling rills, And lend a sweeter song to hidden streams; She opens all the doors of night, and fills With moving bells the music of my dreams, That wander far among the sleeping hills. GSTAAD, August, 1909.

ROSLIN AND HAWTHORNDEN

FAIR Roslin Chapel, how divine
The art that reared thy costly shrine!
Thy carven columns must have grown
By magic, like a dream in stone.

Yet not within thy storied wall Would I in adoration fall, So gladly as within the glen That leads to lovely Hawthornden.

A long-drawn aisle, with roof of green And vine-clad pillars, while between, The Esk runs murmuring on its way, In living music night and day.

Within the temple of this wood
The martyrs of the covenant stood,
And rolled the psalm, and poured the prayer,
From Nature's solemn altar-stair.
Edinburgh, 1877.

LIGHT BETWEEN THE TREES

Long, long, long the trail

Through the brooding forest-gloom,
Down the shadowy, lonely vale
Into silence, like a room

Where the light of life has fled,
And the jealous curtains close
Round the passionless repose

Of the silent dead.

Plod, plod, plod away,
Step by step in mouldering moss;
Thick branches bar the day
Over languid streams that cross
Softly, slowly, with a sound
Like a smothered weeping,
In their aimless creeping
Through enchanted ground.

"Yield, yield, yield thy quest,"
Whispers through the woodland deep;
"Come to me and be at rest;
I am slumber, I am sleep."

Then the weary feet would fail, But the never-daunted will Urges "Forward, forward still! Press along the trail!"

Breast, breast, breast the slope!
See, the path is growing steep.
Hark! a little song of hope
Where the stream begins to leap.
Though the forest, far and wide,
Still shuts out the bending blue,
We shall finally win through,
Cross the long divide.

On, on, on we tramp!
Will the journey never end?
Over yonder lies the camp;
Welcome waits us there, my friend.
Can we reach it ere the night?
Upward, upward, never fear!
Look, the summit must be near;
See the line of light!

Red, red, red the shine
Of the splendour in the west,
Glowing through the ranks of pine,
Clear along the mountain-crest!

Long, long, long the trail
Out of sorrow's lonely vale;
But at last the traveller sees
Light between the trees!

March, 1904.

THE LILY OF YORROW

DEEP in the heart of the forest the lily of Yorrow is growing; Blue is its cup as the sky, and with mystical odour o'erflowing; Faintly it falls through the shadowy glades when the south wind is blowing.

Sweet are the primroses pale and the violets after a shower;

Sweet are the borders of pinks and the blossoming grapes on the bower;

Sweeter by far is the breath of that far-away woodland flower.

Searching and strange in its sweetness, it steals like a perfume enchanted

Under the arch of the forest, and all who perceive it are haunted, Seeking and seeking for ever, till sight of the lily is granted.

Who can describe how it grows, with its chalice of lazuli leaning

Over a crystalline spring, where the ferns and the mosses are greening?

Who can imagine its beauty, or utter the depth of its meaning?

Calm of the journeying stars, and repose of the mountains olden,

Joy of the swift-running rivers, and glory of sunsets golden, Secrets that cannot be told in the heart of the flower are holden.

Surely to see it is peace and the crown of a life-long endeavour; Surely to pluck it is gladness,—but they who have found it can never

Tell of the gladness and peace: they are hid from our vision for ever.

'Twas but a moment ago that a comrade was wandering near me:

Turning aside from the pathway he murmured a greeting to cheer me,—

Then he was lost in the shade, and I called but he did not hear me.

Why should I dream he is dead, and bewail him with passionate sorrow?

Surely I know there is gladness in finding the lily of Yorrow: He has discovered it first, and perhaps I shall find it to-morrow. 1804.

ODE

GOD OF THE OPEN AIR

I

Thou who hast made thy dwelling fair With flowers below, above with starry lights, And set thine altars everywhere,-On mountain heights, In woodlands dim with many a dream. In valleys bright with springs, And on the curving capes of every stream: Thou who hast taken to thyself the wings Of morning, to abide Upon the secret places of the sea, And on far islands, where the tide Visits the beauty of untrodden shores, Waiting for worshippers to come to thee In thy great out-of-doors! To thee I turn, to thee I make my prayer, God of the open air.

· II

Seeking for thee, the heart of man

Lonely and longing ran,

In that first, solitary hour,

When the mysterious power

To know and love the wonder of the morn

Was breathed within him, and his soul was born;

And thou didst meet thy child,

Not in some hidden shrine,

But in the freedom of the garden wild,

And take his hand in thine,—

There all day long in Paradise he walked,

And in the cool of evening with thee talked.

III

Lost, long ago, that garden bright and pure,
Lost, that calm day too perfect to endure,
And lost the child-like love that worshipped and was
sure!

For men have dulled their eyes with sin,
And dimmed the light of heaven with doubt,
And built their temple walls to shut thee in,
And framed their iron creeds to shut thee out.
But not for thee the closing of the door,
O Spirit unconfined!
Thy ways are free
As is the wandering wind,
And thou hast wooed thy children, to restore
Their fellowship with thee,

In peace of soul and simpleness of mind.

IV

Joyful the heart that, when the flood rolled by,
Leaped up to see the rainbow in the sky;
And glad the pilgrim, in the lonely night,
For whom the hills of Haran, tier on tier,
Built up a secret stairway to the height
Where stars like angel eyes were shining clear.
From mountain-peaks, in many a land and age,
Disciples of the Persian seer
Have hailed the rising sun and worshipped thee;
And wayworn followers of the Indian sage
Have found the peace of God beneath a spreading tree.

v

But One, but One, -ah, Son most dear,

And perfect image of the Love Unseen,—
Walked every day in pastures green,
And all his life the quiet waters by,
Reading their beauty with a tranquil eye.
To him the desert was a place prepared
For weary hearts to rest;
The hillside was a temple blest;
The grassy vale a banquet-room
Where he could feed and comfort many a guest.

With him the lily shared
The vital joy that breathes itself in bloom;
And every bird that sang beside the nest
Told of the love that broods o'er every living thing.

He watched the shepherd bring

His flock at sundown to the welcome fold,

The fisherman at daybreak fling

His net across the waters gray and cold,

And all day long the patient reaper swing

His curving sickle through the harvest-gold.

So through the world the foot-path way he trod,

Breathing the air of heaven in every breath;

And in the evening sacrifice of death

Beneath the open sky he gave his soul to God.

Him will I trust, and for my Master take;

Him will I follow; and for his dear sake,

God of the open air,

To thee I make my prayer.

VI

From the prison of anxious thought that greed has builded, From the fetters that envy has wrought and pride has gilded, From the noise of the crowded ways and the fierce confusion, From the folly that wastes its days in a world of illusion, (Ah, but the life is lost that frets and languishes there!) I would escape and be free in the joy of the open air.

By the breadth of the blue that shines in silence o'er me, By the length of the mountain-lines that stretch before me, By the height of the cloud that sails, with rest in motion, Over the plains and the vales to the measureless ocean, (Oh, how the sight of the greater things enlarges the eyes!) Draw me away from myself to the peace of the hills and skies.

While the tremulous leafy haze on the woodland is spreading, And the bloom on the meadow betrays where May has been treading;

While the birds on the branches above, and the brooks flowing under,

Are singing together of love in a world full of wonder,
(Lo, in the magic of Springtime, dreams are changed into truth!)

Quicken my heart, and restore the beautiful hopes of youth.

By the faith that the wild-flowers show when they bloom unbidden,

By the calm of the river's flow to a goal that is hidden, By the strength of the tree that clings to its deep foundation, By the courage of birds' light wings on the long migration, (Wonderful spirit of trust that abides in Nature's breast!) Teach me how to confide, and live my life, and rest.

For the comforting warmth of the sun that my body embraces, For the cool of the waters that run through the shadowy places, For the balm of the breezes that brush my face with their fingers,

For the vesper-hymn of the thrush when the twlight lingers, For the long breath, the deep breath, the breath of a heart without care,—

I will give thanks and adore thee, God of the open air!

VII

These are the gifts I ask
Of thee, Spirit serene:
Strength for the daily task,
Courage to face the road,

Good cheer to help me bear the traveller's load, And, for the hours of rest that come between, An inward joy in all things heard and seen.

These are the sins I fain
Would have thee take away:
Malice, and cold disdain,
Hot anger, sullen hate,
Scorn of the lowly, envy of the great,
And discontent that casts a shadow gray
On all the brightness of the common day.

These are the things I prize And hold of dearest worth: Light of the sapphire skies, Peace of the silent hills, Shelter of forests, comfort of the grass, Music of birds, murmur of little rills, Shadows of cloud that swiftly pass,

> And, after showers, The smell of flowers

And of the good brown earth,—

And best of all, along the way, friendship and mirth.

So let me keep

These treasures of the humble heart
In true possession, owning them by love;
And when at last I can no longer move
Among them freely, but must part
From the green fields and from the waters clear,

Let me not creep

Into some darkened room and hide

From all that makes the world so bright and dear; But throw the windows wide

To welcome in the light;

And while I clasp a well-beloved hand,

Let me once more have sight

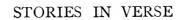
Of the deep sky and the far-smiling land,—

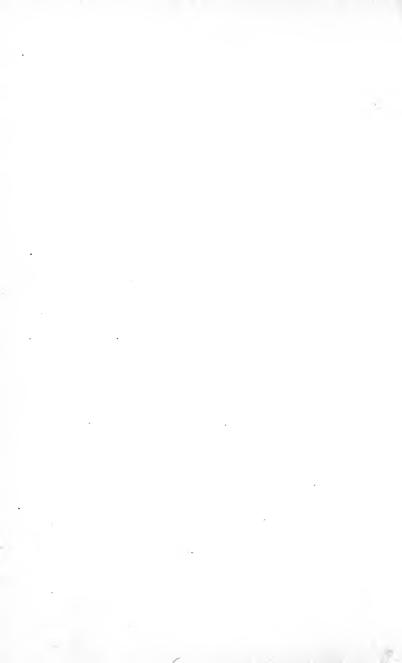
Then gently fall on sleep,

And breathe my body back to Nature's care, My spirit out to thee, God of the open air.

1904.







THE TOILING OF FELIX A LEGEND ON A NEW SAYING OF JESUS

In the rubbish heaps of the ancient city of Oxyrhynchus, near the River Nile, a party of English explorers, in the winter of 1897, discovered a fragment of a papyrus book, written in the second or third century, and hitherto unknown. This single leaf contained parts of seven short sentences of Christ, each introduced by the words, "Jesus says." It is to the fifth of these Sayings of Jesus that the following poem refers.

THE TOILING OF FELIX

Ι

PRELUDE

HEAR a word that Jesus spake
Eighteen hundred years ago,
Where the crimson lilies blow
Round the blue Tiberian lake:
There the bread of life He brake,
Through the fields of harvest walking
With His lowly comrades, talking
Of the secret thoughts that feed
Weary souls in time of need.
Art thou hungry? Come and take;
Hear the word that Jesus spake!

'Tis the sacrament of labour, bread and wine divinely blest; Friendship's food and sweet refreshment, strength and courage, joy and rest.

But this word the Master said

Long ago and far away,

Silent and forgotten lay

Buried with the silent dead,

Where the sands of Egypt spread

Sea-like, tawny billows heaping

Over ancient cities sleeping,

While the River Nile between Rolled its summer flood of green Rolled its autumn flood of red: There the word the Master said,

Written on a frail papyrus, wrinkled, scorched by fire, and torn, Hidden in God's hand was waiting for its resurrection morn.

Now at last the buried word

By the delving spade is found,
Sleeping in the quiet ground.

Now the call of life is heard:
Rise again, and like a bird,
Fly abroad on wings of gladness
Through the darkness and the sadness,
Of the toiling age, and sing
Sweeter than the voice of Spring,
Till the hearts of men are stirred
By the music of the word,—

Gospel for the heavy-laden, answer to the labourer's cry: "Raise the stone, and thou shalt find me; cleave the wood and there am I."

II LEGEND

Brother-men who look for Jesus, long to see Him close and clear,

Hearken to the tale of Felix, how he found the Master near.

- Born in Egypt, 'neath the shadow of the crumbling gods of night,
- He forsook the ancient darkness, turned his young heart toward the Light.
- Seeking Christ, in vain he waited for the vision of the Lord; Vainly pondered many volumes where the creeds of men were stored;
- Vainly shut himself in silence, keeping vigil night and day; Vainly haunted shrines and churches where the Christians came to pray.
- One by one he dropped the duties of the common life of care, Broke the human ties that bound him, laid his spirit waste and bare,
- Hoping that the Lord would enter that deserted dwellingplace,
- And reward the loss of all things with the vision of His face.
- Still the blessed vision tarried; still the light was unrevealed; Still the Master, dim and distant, kept His countenance concealed.
- Fainter grew the hope of finding, wearier grew the fruitless quest;
- Prayer and penitence and fasting gave no comfort, brought no rest.

- Lingering in the darkened temple, ere the lamp of faith went out,
- Felix knelt before the altar, lonely, sad, and full of doubt.
- "Hear me, O thou mighty Master," from the altar-step he cried,
- "Let my one desire be granted, let my hope be satisfied!
- "Only once I long to see Thee, in the fulness of Thy grace:
- Break the clouds that now enfold Thee with the sunrise of Thy face!
- "All that men desire and treasure have I counted loss for Thee;
- Every hope have I forsaken, save this one, my Lord to see.
- "Loosed the sacred bands of friendship, solitary stands my heart;
- Thou shalt be my sole companion when I see Thee as Thou art.
- "From Thy distant throne in glory, flash upon my inward sight,
- Fill the midnight of my spirit with the splendour of Thy light.
- "All Thine other gifts and blessings, common mercies, I disown;
- Separated from my brothers, I would see Thy face alone.

- "I have watched and I have waited as one watcheth for the morn:
- Still the veil is never lifted, still Thou leavest me forlorn.
- "Now I seek Thee in the desert, where the holy hermits dwell; There, beside the saint Serapion, I will find a lonely cell.
- "There at last Thou wilt be gracious; there Thy presence, long-concealed,
- In the solitude and silence to my heart shall stand revealed.
- "Thou wilt come, at dawn or twilight, o'er the rolling waves of sand;
- I shall see Thee close beside me, I shall touch Thy pierced hand.
- "Lo, Thy pilgrim kneels before Thee; bless my journey with a word;
- Tell me now that if I follow I shall find Thee, O my Lord!"
- Felix listened: through the darkness, like a murmur of the wind, Came a gentle sound of stillness: "Never faint, and thou shalt find."
- Long and toilsome was his journey through the heavy land of heat,
- Egypt's blazing sun above him, blistering sand beneath his feet.

Patiently he plodded onward, from the pathway never erred, Till he reached the river-fastness called the Mountain of the Bird.

There the tribes of air assemble, once a year, their noisy flock, Then, departing, leave their sentinel perched upon the highest rock.

Far away, on joyful pinions, over land and sea they fly; But the watcher on the summit lonely stands against the sky.

There the eremite Serapion in a cave had made his bed; There the faithful bands of pilgrims sought his blessing, brought him bread.

Month by month, in deep seclusion, hidden in the rocky cleft, Dwelt the hermit, fasting, praying; once a year the cave he left.

On that day a happy pilgrim, chosen out of all the band, Won a special sign of favour from the holy hermit's hand.

Underneath the narrow window, at the doorway closely sealed, While the afterglow of sunset deepened round him, Felix kneeled.

"Man of God, of men most holy, thou whose gifts cannot be priced!

Grant me thy most precious guerdon; tell me how to find the Christ."

- Breathless, Felix bowed and listened, but no answering voice he heard;
- Darkness folded, dumb and deathlike, round the Mountain of the Bird.
- Then he said, "The saint is silent; he would teach my soul to wait:
- I will tarry here in patience, like a beggar at his gate."
- Near the dwelling of the hermit Felix found a rude abode In a shallow tomb deserted, close beside the pilgrim-road.
- So the faithful pilgrims saw him waiting there without complaint,—
- Soon they learned to call him holy, fed him as they fed the saint.
- Day by day he watched the sunrise flood the distant plain with gold,
- While the River Nile beneath him, silvery coiling, seaward rolled.
- Night by night he saw the planets range their glittering court on high,
- Saw the moon, with queenly motion, mount her throne and rule the sky.
- Morn advanced and midnight fled, in visionary pomp attired; Never morn and never midnight brought the vision longdesired.

Now at last the day is dawning when Serapion makes his gift; Felix kneels before the threshold, hardly dares his eyes to lift.

Now the cavern door uncloses, now the saint above him stands, Blesses him without a word, and leaves a token in his hands.

'Tis the guerdon of thy waiting! Look, thou happy pilgrim, look!

Nothing but a tattered fragment of an old papyrus book.

Read! perchance the clue to guide thee hidden in the words may lie:

"Raise the stone, and thou shalt find me; cleave the wood, and there am I."

Can it be the mighty Master spake such simple words as these?

Can it be that men must seek Him at their toil 'mid rocks and trees?

Disappointed, heavy-hearted, from the Mountain of the Bird Felix mournfully descended, questioning the Master's word.

Not for him a sacred dwelling, far above the haunts of men: He must turn his footsteps backward to the common life again.

From a quarry near the river, hollowed out below the hills, Rose the clattering voice of labour, clanking hammers, clinking drills.

- Dust, and noise, and hot confusion made a Babel of the spot: There, among the lowliest workers, Felix sought and found his lot.
- Now he swung the ponderous mallet, smote the iron in the rock—
- Muscles quivering, tingling, throbbing—blow on blow and shock on shock;
- Now he drove the willow wedges, wet them till they swelled and split,
- With their silent strength, the fragment, sent it thundering down the pit.
- Now the groaning tackle raised it; now the rollers made it slide;
- Harnessed men, like beasts of burden, drew it to the river-side.
- Now the palm-trees must be riven, massive timbers hewn and dressed,
- Rafts to bear the stones in safety on the rushing river's breast.
- Axe and auger, saw and chisel, wrought the will of man in wood: 'Mid the many-handed labour Felix toiled, and found it good.
- Every day the blood ran fleeter through his limbs and round his heart;
- Every night he slept the sweeter, knowing he had done his part.

Dreams of solitary saintship faded from him; but, instead, Came a sense of daily comfort in the toil for daily bread.

Far away, across the river, gleamed the white walls of the town Whither all the stones and timbers day by day were drifted down.

There the workman saw his labour taking form and bearing fruit,

Like a tree with splendid branches rising from a humble root.

Looking at the distant city, temples, houses, domes, and towers,

Felix cried in exultation: "All the mighty work is ours.

"Every mason in the quarry, every builder on the shore, Every chopper in the palm-grove, every raftsman at the oar,

"Hewing wood and drawing water, splitting stones and cleaving sod,

All the dusty ranks of labour, in the regiment of God,

"March together toward His triumph, do the task His hands prepare:

Honest toil is holy service; faithful work is praise and prayer."

While he bore the heat and burden Felix felt the sense of rest Flowing softly like a fountain, deep within his weary breast; Felt the brotherhood of labour, rising round him like a tide, Overflow his heart and join him to the workers at his side.

Oft he cheered them with his singing at the breaking of the light,

Told them tales of Christ at noonday, taught them words of prayer at night.

Once he bent above a comrade fainting in the mid-day heat, Sheltered him with woven palm-leaves, gave him water, cool and sweet.

Then it seemed, for one swift moment, secret radiance filled the place;

Underneath the green palm-branches flashed a look of Jesus' face.

Once again, a raftsman, slipping, plunged beneath the stream and sank;

Swiftly Felix leaped to rescue, caught him, drew him toward the bank—

Battling with the cruel river, using all his strength to save— Did he dream? or was there One beside him walking on the wave?

Now at last the work was ended, grove deserted, quarry stilled; Felix journeyed to the city that his hands had helped to build.

In the darkness of the temple, at the closing hour of day, As of old he sought the altar, as of old he knelt to pray:

"Hear me, O Thou hidden Master! Thou hast sent a word to me;

It is written—Thy commandment—I have kept it faithfully.

"Thou hast bid me leave the visions of the solitary life,

Bear my part in human labour, take my share in human

strife.

"I have done Thy bidding, Master; raised the rock and felled the tree,

Swung the axe and plied the hammer, working every day for Thee.

"Once it seemed I saw Thy presence through the bending palm-leaves gleam;

Once upon the flowing water—Nay, I know not, 'twas a dream!

"This I know: Thou hast been near me: more than this I dare not ask.

Though I see Thee not, I love Thee. Let me do Thy humblest task!"

Through the dimness of the temple slowly dawned a mystic light;

There the Master stood in glory, manifest to mortal sight:

Hands that bore the mark of labour, brow that bore the print of care;

Hands of power, divinely tender; brow of light, divinely fair.

"Hearken, good and faithful servant, true disciple, loyal friend! Thou hast followed me and found me; I will keep thee to the end.

"Well I know thy toil and trouble; often weary, fainting, worn, I have lived the life of labour, heavy burdens I have borne.

"Never in a prince's palace have I slept on golden bed, Never in a hermit's cavern have I eaten unearned bread.

"Born within a lowly stable, where the cattle round me stood, Trained a carpenter in Nazareth, I have toiled, and found it good.

"They who tread the path of labour follow where my feet have trod;

They who work without complaining do the holy will of God.

"Where the many toil together, there am I among my own; Where the tired workman sleepeth, there am I with him alone.

"I, the peace that passeth knowledge, dwell amid the daily strife;

I, the bread of heaven, am broken in the sacrament of life.

- "Every task, however simple, sets the soul that does it free; Every deed of love and mercy, done to man, is done to me.
- "Thou hast learned the open secret; thou hast come to me for rest;
- With thy burden, in thy labour, thou art Felix, doubly blest.
- "Nevermore thou needest seek me; I am with thee everywhere;
- Raise the stone, and thou shalt find me; cleave the wood, and I am there."

III

ENVOY

The legend of Felix is ended, the toiling of Felix is done;
The Master has paid him his wages, the goal of his journey is
won:

He rests, but he never is idle; a thousand years pass like a day, In the glad surprise of the Paradise where work is sweeter than play.

- Yet often the King of that country comes out from his tireless host,
- And walks in this world of the weary as if He loved it the most; For here in the dusty confusion, with eyes that are heavy and dim,
- He meets again the labouring men who are looking and longing for Him.

He cancels the curse of Eden, and brings them a blessing instead:

Blessed are they that labour, for Jesus partakes of their bread He puts His hand to their burdens, He enters their homes at night:

Who does his best shall have as a guest the Master of life and light.

And courage will come with His presence, and patience return at His touch,

And manifold sins be forgiven to those who love Him much;

The cries of envy and anger will change to the songs of cheer,

The toiling age will forget its rage when the Prince of Peace draws near.

This is the gospel of labour, ring it, ye bells of the kirk!

The Lord of Love came down from above, to live with the men who work.

This is the rose that He planted, here in the thorn-curst soil:

Heaven is blest with perfect rest, but the blessing of Earth is toil.

1898.

VERA

T

A silent world,—yet full of vital joy
Expressed in rhythmic movements manifold,
And sunbeams flashing on the face of things
Like sudden smilings of divine delight,—
A world of many sorrows too, revealed
In fading flowers and withering leaves and dark
Tear-laden clouds, and tearless, clinging mists
That hung above the earth too sad to weep,—
A world of fluent change, and changeless flow,
And infinite suggestion of new thoughts,
Reflected in the mirror of the heart
With shifting colours and dissolving forms,—
A world of many meanings but no words,
A silent world was Vera's home.

For her

The inner doors of sound were closely sealed. The outer portals, delicate as shells
Suffused with faintest rose of far-off morn,
Like underglow of daybreak in the sea,—
The ear-gates of the garden of her soul,
Shaded by drooping tendrils of brown hair,
Waited in vain for messengers to pass,

83

And thread the labyrinth with flying feet,
And swiftly knock upon the inmost door,
And enter in, and speak the mystic word.
But through those gates no message ever came.
Only with eyes did she behold and see,—
With eyes as luminous and bright and brown
As waters of a woodland river,—eyes
That questioned so they almost seemed to speak,
And answered so they almost seemed to hear,—
Only with wondering eyes did she behold
The silent splendour of a soundless world.

She saw the great wind ranging freely down
Interminable archways of the wood,
While tossing boughs and bending tree-tops hailed
His coming: but no sea-tuned voice of pines,
No roaring of the oaks, no silvery song
Of poplars or of birches, followed him.
He passed; they waved their arms and clapped their hands;
But all was still.

The torrents from the hills
Leaped down their rocky stairways, like wild steeds
Breaking the yoke and shaking manes of foam.
The lowland brooks coiled smoothly through the fields,
And softly spread themselves in glistening lakes
Whose ripples merrily danced among the reeds.

The standing waves that ever keep their place In the swift rapids, curled upon themselves, And seemed about to break and never broke; And all the wandering waves that fill the sea Came buffeting in along the stony shore, Or plunging in along the level sands, Or creeping in along the winding creeks And inlets. Yet from all the ceaseless flow And turmoil of the restless element Came neither song of joy nor sob of grief; For there were many waters, but no voice.

Silent the actors all on Nature's stage
Performed their parts before her watchful eyes,
Coming and going, making war and love,
Working and playing, all without a sound.
The oxen drew their load with swaying necks,
The kine came sauntering home along the lane,
The nodding sheep were led from field to fold,
In mute obedience. Down the woodland track
The hounds with panting sides and lolling tongues
Pursued their flying prey in noiseless haste.
The birds, the most alive of living things,
The quickest to respond to joy and fear,
Mated, and built their nests, and reared their young,
And swam the flood of air like tiny ships

VERA 85

Rising and falling over unseen waves, And, gathering in great navies, bore away To North or South, without a note of song.

All these were Vera's playmates, and she loved To watch them, wondering oftentimes how well They knew their parts, and how the drama moved So swiftly, smoothly on from scene to scene Without confusion. But she sometimes dreamed There must be something hidden in the play Unknown to her, an utterance of life More clear than action and more deep than looks. And this she felt most deeply when she watched Her human comrades and the throngs of men, Who met and parted oft with moving lips That had a meaning more than she could see. She saw a lover bend above a maid, With moving lips; and though he touched her not A sudden rose of joy bloomed in her face. She saw a hater stand before his foe And move his lips; whereat the other shrank As if he had been smitten on the mouth. She saw the regiments of toiling men Marshalled in ranks and led by moving lips. And once she saw a sight more strange than all: A crowd of people sitting charmed and still

Around a little company of men
Who touched their hands in measured, rhythmic time
To curious instruments; a woman stood
Among them, with bright eyes and heaving breast,
And lifted up her face and moved her lips.
Then Vera wondered at the idle play,
But when she looked around, she saw the glow
Of deep delight on every face, as if
Some visitor from a celestial world
Had brought glad tidings. But to her alone
No angel entered, for the choir of sound
Was vacant in the temple of her soul,
And worship lacked her golden crown of song.

So when, by vision baffled and perplexed,
She saw that all the world could not be seen,
And knew she could not know the whole of life
Unless a hidden gate should be unsealed,
She felt imprisoned. In her heart there grew
The bitter creeping plant of discontent,
The plant that only grows in prison soil,
Whose root is hunger and whose fruit is pain.
The springs of still delight and tranquil joy
Were drained as dry as desert dust to feed
That never-flowering vine, whose tendrils clung
With strangling touch around the bloom of life

VERA 87

And made it wither. Vera could not rest
Within the limits of her silent world;
Along its dumb and desolate paths she roamed
A captive, looking sadly for escape.

Now in those distant days, and in that land Remote, there lived a Master wonderful, Who knew the secret of all life, and could, With gentle touches and with potent words, Open all gates that ever had been sealed, And loose all prisoners whom Fate had bound. Obscure he dwelt, not in the wilderness, But in a hut among the throngs of men, Concealed by meekness and simplicity. And ever as he walked the city streets, Or sat in quietude beside the sea, Or trod the hillsides and the harvest fields. The multitude passed by and knew him not. But there were some who knew, and turned to him For help; and unto all who asked, he gave. Thus Vera came, and found him in the field, And knew him by the pity in his face, And knelt to him and held him by one hand, And laid the other hand upon her lips In mute entreaty. Then she lifted up The coils of hair that hung about her neck

And bared the beauty of the gates of sound,—
Those virgin gates through which no voice had passed,—
She made them bare before the Master's sight,
And looked into the kindness of his face
With eyes that spoke of all her prisoned pain,
And told her great desire without a word.

The Master waited long in silent thought,
As one reluctant to bestow a gift,
Not for the sake of holding back the thing
Entreated, but because he surely knew
Of something better that he fain would give
If only she would ask it. Then he stooped
To Vera, smiling, touched her ears and spoke:
"Open, fair gates, and you, reluctant doors,
Within the ivory labyrinth of the ear,
Let fall the bar of silence and unfold!
Enter, you voices of all living things,
Enter the garden sealed,—but softly, slowly,
Not with a noise confused and broken tumult,—
Come in an order sweet as I command you,
And bring the double gift of speech and hearing."

Vera began to hear. At first the wind Breathed a low prelude of the birth of sound, As if an organ far away were touched VERA

89

By unseen fingers; then the little stream
That hurried down the hillside, swept the harp
Of music into merry, tinkling notes;
And then the lark that poised above her head
On wings a-quiver, overflowed the air
With showers of song; and one by one the tones
Of all things living, in an order sweet,
Without confusion and with deepening power,
Entered the garden sealed. And last of all
The Master's voice, the human voice divine,
Passed through the gates and called her by her name,
And Vera heard.

II

What rapture of new life Must come to one for whom a silent world Is suddenly made vocal, and whose heart By the same magic is awaked at once, Without the learner's toil and long delay, Out of a night of dumbly moving dreams, Into a day that overflows with music! This joy was Vera's; and to her it seemed As if a new creative morn had risen Upon the earth, and after the full week When living things unfolded silently, And after the long, quiet Sabbath day,

When all was still, another day had dawned,
And through the calm expectancy of heaven
A secret voice had said, "Let all things speak."
The world responded with an instant joy;
And all the unseen avenues of sound
Were thronged with varying forms of viewless life.

To every living thing a voice was given Distinct and personal. The forest trees Were not more varied in their shades of green Than in their tones of speech; and every bird That nested in their branches had a song Unknown to other birds and all his own. The waters spoke a hundred dialects Of one great language; now with pattering fall Of raindrops on the glistening leaves, and now With steady roar of rivers rushing down To meet the sea, and now with rhythmic throb And measured tumult of tempestuous waves, And now with lingering lisp of creeping tides,— The manifold discourse of many waters. But most of all the human voice was full Of infinite variety, and ranged Along the scale of life's experience With changing tones, and notes both sweet and sad, All fitted to express some unseen thought,

VERA 91

Some vital motion of the hidden heart.

So Vera listened with her new-born sense

To all the messengers that passed the gates,

In measureless delight and utter trust,

Believing that they brought a true report

From every living thing of its true life,

And hoping that at last they would make clear

The meaning and the mystery of the world.

But soon there came a trouble in her joy, A cloud of doubt across her sky of trust, A note discordant that dissolved the chord And broke the bliss of hearing into pain. Not from the harsher sounds and voices wild Of anger and of anguish, that reveal The secret strife in nature, and confess The touch of sorrow on the heart of life,— From these her trouble came not. For in these, However sad, she felt the note of truth, And truth, though sad, is always musical. The raging of the tempest-ridden sea, The crash of thunder, and the hollow moan Of winds complaining round the mountain-crags, The shrill and quavering cry of birds of prey, The fiercer roar of conflict-loving beasts,— All these wild sounds are potent in their place

Within life's mighty symphony; the charm
Of truth attunes them, and the hearing ear
Finds pleasure in their rude sincerity.
Even the broken and tumultuous noise
That rises from great cities, where the heart
Of human toil is beating heavily
With ceaseless murmurs of the labouring pulse,
Is not a discord; for it speaks to life
Of life unfeigned, and full of hopes and fears,
And touched through all the trouble of its notes
With something real and therefore glorious.

One voice alone of all that sound on earth, Is hateful to the soul, and full of pain,—
The voice of falsehood. So when Vera heard
This mocking voice, and knew that it was false;
When first she learned that human lips can speak
The thing that is not, and betray the ear
Of simple trust with treachery of words;
The joy of hearing withered in her heart.
For now she felt that faithless messengers
Could pass the open and unguarded gates
Of sound, and bring a message all untrue,
Or half a truth that makes the deadliest lie,
Or idle babble, neither false nor true,
But hollow to the heart, and meaningless.

She heard the flattering voices of deceit. That mask the hidden purposes of men With fair attire of favourable words. And hide the evil in the guise of good. The voices vain and decorous and smooth, That fill the world with empty-hearted talk; The foolish voices, wandering and confused, That cannot clearly speak the thing they would, But ramble blindly round their true intent And tangle sense in hopeless coils of sound,-All these she heard, and with a sad mistrust Began to doubt the value of her gift. It seemed as if the world, the living world, Sincere, and deep, and real, were still concealed, And she, within the prison of her soul, Still waiting silently to hear the voice Of perfect knowledge and of perfect peace.

So with the burden of her discontent
She turned to seek the Master once again,
And found him sitting in the market-place,
Half-hidden in the shadow of a porch,
Alone among the careless crowd.

She spoke:

"Thy gift was great, dear Master, and my heart Has thanked thee many times because I hear. But I have learned that hearing is not all;
For underneath the speech of men, there flows
Another current of their hidden thoughts;
Behind the mask of language I perceive
The eyes of things unuttered; and I feel
The throbbing of the real heart of the world
Beneath the robe of words. Touch me again,
O Master, with thy liberating hand,
And free me from the bondage of deceit.
Open another gate, and let me hear
The secret thoughts and purposes of men;
For only thus my heart will be at rest,
And only thus, at last, I shall perceive
The meaning and the mystery of the world."

The Master's face was turned away from her;
His eyes looked far away, as if he saw
Something beyond her sight; and yet she knew
That he was listening; for her pleading voice
No sooner ceased than he put forth his hand
To touch her brow, and very gently spoke:
"Thou seekest for thyself a wondrous gift,—
The opening of the second gate, a gift
That many wise men have desired in vain:
But some have found it,—whether well or ill
For their own peace, they have attained the power

VERA 95

To hear unspoken thoughts of other men.

And thou hast begged this gift? Thou shalt receive,—

Not knowing what thou seekest,—it is thine:

The second gate is open! Thou shalt hear

All that men think and feel within their hearts:

Thy prayer is granted, daughter, go thy way!

But if thou findest sorrow on this path,

Come back again,—there is a path to peace."

TIT

Beyond our power of vision, poets say, There is another world of forms unseen, Yet visible to purer eyes than ours. And if the crystal of our sight were clear, We should behold the mountain-slopes of cloud, The moving meadows of the untilled sea, The groves of twilight and the dales of dawn, And every wide and lonely field of air, More populous than cities, crowded close With living creatures of all shapes and hues. But if that sight were ours, the things that now Engage our eyes would seem but dull and dim Beside the wonders of our new-found world, And we should be amazed and overwhelmed Not knowing how to use the plenitude Of vision.

So in Vera's soul, at first, The opening of the second gate of sound Let in confusion like a whirling flood. The murmur of a myriad-throated mob; The trampling of an army through a place Where echoes hide; the sudden, whistling flight Of an innumerable flock of birds Along the highway of the midnight sky; The many-whispered rustling of the reeds Beneath the passing feet of all the winds; The long-drawn, inarticulate, wailing cry Of million-pebbled beaches when the lash Of falling waves is drawn across their back,— All these were less bewildering than to hear What now she heard at once: the tangled sound Of all that moves within the minds of men. For now there was no measured flow of words To mark the time; nor any interval Of silence to repose the listening ear. But through the dead of night, and through the calm Of weary noon-tide, through the solemn hush That fills the temple in the pause of praise, And through the breathless awe in rooms of death, She heard the ceaseless motion and the stir Of never-silent hearts, that fill the world With interwoven thoughts of good and ill,

VERA 97

With mingled music of delight and grief, With songs of love, and bitter cries of hate, With hymns of faith, and dirges of despair, And murmurs deeper and more vague than all,-Thoughts that are born and die without a name. Or rather, never die, but haunt the soul, With sad persistence, till a name is given. These Vera heard, at first with mind perplexed And half-benumbed by the disordered sound. But soon a clearer sense began to pierce The cloudy turmoil with discerning power. She learned to know the tones of human thought As plainly as she knew the tones of speech. She could divide the evil from the good. Interpreting the language of the mind, And tracing every feeling like a thread Within the mystic web the passions weave From heart to heart around the living world.

But when at last the Master's second gift
Was periected within her, and she heard
And understood the secret thoughts of men,
A sadness fell upon her, and the weight
Of an intolerable knowledge pressed her down
With weary wishes to know more, or less.
For all she knew was like a broken word

Inscribed upon the fragment of a ring; And all she heard was like a troubled strain Preluding music that is never played.

Then she remembered in her sad unrest The Master's parting word,—"a path to peace,"— And turned again to seek him with her grief. She found him in a hollow of the hills. Beside a little spring that issued forth From broken rocks and filled an emerald cup With never-failing water. There he sat, With waiting looks that welcomed her afar. "I know that thou hast heard, my child," he said, "For all the wonder of the world of sound Is written in thy face. But hast thou heard, Among the many voices, one of peace? And is thy heart that hears the secret thoughts, The hidden wishes and desires of men, Content with hearing? Art thou satisfied?" "Nay, Master," she replied, "thou knowest well That I am not at rest, nor have I heard The voice of perfect peace; but what I hear Brings me disquiet and a troubled mind. The evil voices in the souls of men. Voices of rage and cruelty and fear Have not dismayed me; for I have believed

VERA 99

The voices of the good, the kind, the true, Are more in number and excel in strength. There is more love than hate, more hope than fear, In the deep throbbing of the human heart. But while I listen to the troubled sound, One thing torments me, and destroys my rest And presses me with dull, unceasing pain. For out of all the minds of all mankind, There rises evermore a questioning voice That asks the meaning of this mighty world And finds no answer,—asks, and asks again, With patient pleading or with wild complaint, But wakens no response, except the sound Of other questions, wandering to and fro, From other souls in doubt. And so this voice Persists above all others that I hear, And binds them up together into one, Until the mingled murmur of the world Sounds through the inner temple of my heart Like an eternal question, vainly asked, By every human soul that thinks and feels. This is the heaviness that weighs me down, And this the pain that will not let me rest. Therefore, dear Master, shut the gates again, And let me live in silence as before! Or else,—and if there is indeed a gate

Unopened yet, through which I might receive An answer in the voice of perfect peace—"

She ceased; and in her upward faltering tone The question echoed.

Then the Master said:

"There is another gate, not yet unclosed. For through the outer portal of the ear Only the outer voice of things may pass; And through the middle doorway of the mind Only the half-formed voice of human thoughts, Uncertain and perplexed with endless doubt; But through the inmost gate the spirit hears The voice of that great Spirit who is Life. Beneath the tones of living things He breathes A deeper tone than ever ear hath heard; And underneath the troubled thoughts of men He thinks forever, and His thought is peace. Behold, I touch thee once again, my child: The third and last of those three hidden gates That closed around thy soul and shut thee in, Is open now, and thou shalt truly hear."

Then Vera heard. The spiritual gate Was opened softly as a full-blown flower Unfolds its heart to welcome in the dawn, And on her listening face there shone a light Of still amazement and completed joy In the full gift of hearing.

What she heard
I cannot tell; nor could she ever tell
In words; because all human words are vain,
There is no speech nor language, to express
The secret messages of God, that make
Perpetual music in the hearing heart.
Below the voice of waters, and above
The wandering voice of winds, and underneath
The song of birds and all the varying tones
Of living things that fill the world with sound,

God spoke to her, and what she heard was peace.

So when the Master questioned, "Dost thou hear?"
She answered, "Yea, at last I hear." And then
He asked her once again, "What hearest thou?
What means the voice of Life?" She answered, "Love!
For love is life, and they who do not love
Are not alive. But every soul that loves,
Lives in the heart of God and hears Him speak."
1898.

ANOTHER CHANCE

A DRAMATIC LYRIC

COME, give me back my life again, you heavy-handed Death! Uncrook your fingers from my throat, and let me draw my breath.

You do me wrong to take me now—too soon for me to die—Ah, loose me from this clutching pain, and hear the reason why.

I know I've had my forty years, and wasted every one;
And yet, I tell you honestly, my life is just begun;
I've walked the world like one asleep, a dreamer in a trance;
But now you've gripped me wide awake—I want another chance.

My dreams were always beautiful, my thoughts were high and fine;

No life was ever lived on earth to match those dreams of mine. And would you wreck them unfulfilled? What folly, nay, what crime!

You rob the world, you waste a soul; give me a little time.

You'll hear me? Yes, I'm sure you will, my hope is not in vain:

I feel the even pulse of peace, the sweet relief from pain;

The black fog rolls away from me; I'm free once more to plan: Another chance is all I need to prove myself a man!

The world is full of warfare 'twixt the evil and the good;
I watched the battle from afar as one who understood
The shouting and confusion, the bloody, blundering fight—
How few there are that see it clear, how few that wage it right!

The captains flushed with foolish pride, the soldiers pale with fear,

The faltering flags, the feeble fire from ranks that swerve and veer,

The wild mistakes, the dismal doubts, the coward hearts that flee—

The good cause needs a nobler knight to win the victory.

A man whose soul is pure and strong, whose sword is bright and keen,

Who knows the splendour of the fight and what its issues mean; Who never takes one step aside, nor halts, though hope be dim, But cleaves a pathway thro' the strife, and bids men follow him.

No blot upon his stainless shield, no weakness in his arm; No sign of trembling in his face to break his valour's charm: A man like this could stay the flight and lead the wavering line; Ah, give me but a year of life—I'll make that glory mine! Religion? Yes, I know it well; I've heard its prayers and creeds,

And seen men put them all to shame with poor, half-hearted deeds.

They follow Christ, but far away; they wander and they doubt. I'll serve him in a better way, and live his precepts out.

You see, I waited just for this; I could not be content
To own a feeble, faltering faith with human weakness blent.
Too many runners in the race move slowly, stumble, fall;
But I will run so straight and swift I shall outstrip them all.

Oh, think what it will mean to men, amid their foolish strife, To see the clear, unshadowed light of one true Christian life, Without a touch of selfishness, without a taint of sin,—With one short month of such a life a new world would begin!

And love!—I often dream of that—the treasure of the earth; How little they who use the coin have realised its worth! 'Twill pay all debts, enrich all hearts, and make all joys secure. But love, to do its perfect work, must be sincere and pure.

My heart is full of virgin gold. I'll pour it out and spend My hidden wealth with open hand on all who call me friend. Not one shall miss the kindly deed, the largess of relief, The generous fellowship of joy, the sympathy of grief. I'll say the loyal, helpful things that make life sweet and fair, I'll pay the gratitude I owe for human love and care. Perhaps I've been at fault sometimes—I'll ask to be forgiven, And make this little room of mine seem like a bit of heaven.

For one by one I'll call my friends to stand beside my bed; I'll speak the true and tender words so often left unsaid; And every heart shall throb and glow, all coldness melt away Around my altar-fire of love—ah, give me but one day!

What's that? I've had another day, and wasted it again?

A priceless day in empty dreams, another chance in vain?

Thou fool—this night—it's very dark—the last—this choking breath—

One prayer—have mercy on a dreamer's soul—God, this is death!

A LEGEND OF SERVICE

It pleased the Lord of Angels (praise His name!) To hear, one day, report from those who came With pitying sorrow, or exultant joy, To tell of earthly tasks in His employ. For some were grieved because they saw how slow The stream of heavenly love on earth must flow; And some were glad because their eyes had seen, Along its banks, fresh flowers and living green. At last, before the whiteness of the throne The youngest angel, Asmiel, stood alone; Nor glad, nor sad, but full of earnest thought, And thus his tidings to the Master brought: "Lord, in the city Lupon I have found "Three servants of thy holy name, renowned "Above their fellows. One is very wise, "With thoughts that ever range beyond the skies; "And one is gifted with the golden speech

[&]quot;That makes men gladly hear when he will teach;

[&]quot;And one, with no rare gift or grace endued,

[&]quot;Has won the people's love by doing good.

[&]quot;With three such saints Lupon is trebly blest;

[&]quot;But, Lord, I fain would know, which loves Thee best?"

Then spake the Lord of Angels, to whose look
The hearts of all are like an open book:
"In every soul the secret thought I read,

"And well I know who loves me best indeed.

"But every life has pages vacant still,

"Whereon a man may write the thing he will;

"Therefore I read the record, day by day,

"And wait for hearts untaught to learn my way.

"But thou shalt go to Lupon, to the three

"Who serve me there, and take this word from me:

"Tell each of them his Master bids him go

"Alone to Spiran's huts, across the snow;

"There he shall find a certain task for me:

"But what, I do not tell to them nor thee.

"Give thou the message, make my word the test,

"And crown for me the one who loves me best."
Silent the angel stood, with folded hands,
To take the imprint of his Lord's commands;
Then drew one breath, obedient and elate,

And passed the self-same hour, through Lupon's gate.

First to the Temple door he made his way; And there, because it was a holy-day, He saw the folk in thousands thronging, stirred By ardent thirst to hear the preacher's word. Then, while the people whispered Bernol's name, Through aisles that hushed behind him Bernol came; Strung to the keenest pitch of conscious might, With lips prepared and firm, and eyes alight. One moment at the pulpit step he knelt In silent prayer, and on his shoulder felt The angel's hand:—"The Master bids thee go "Alone to Spiran's huts, across the snow, "To serve Him there." Then Bernol's hidden face Went white as death, and for about the space Of ten slow heart-beats there was no reply; Till Bernol looked around and whispered, "Why?" But answer to his question came there none; The angel sighed, and with a sigh was gone.

Within the humble house where Malvin spent
His studious years, on holy things intent,
Sweet stillness reigned; and there the angel found
The saintly sage immersed in thought profound,
Weaving with patient toil and willing care
A web of wisdom, wonderful and fair:
A seamless robe for Truth's great bridal meet,
And needing but one thread to be complete.
Then Asmiel touched his hand, and broke the thread
Of fine-spun thought, and very gently said,
"The One of whom thou thinkest bids thee go
"Alone to Spiran's huts, across the snow,

"To serve Him there." With sorrow and surprise Malvin looked up, reluctance in his eyes.

The broken thought, the strangeness of the call,
The perilous passage of the mountain-wall,
The solitary journey, and the length
Of ways unknown, too great for his frail strength,
Appalled him. With a doubtful brow
He scanned the doubtful task, and muttered "How?"
But Asmiel answered, as he turned to go,
With cold, disheartened voice, "I do not know."

Now as he went, with fading hope, to seek
The third and last to whom God bade him speak,
Scarce twenty steps away whom should he meet
But Fermor, hurrying cheerful down the street,
With ready heart that faced his work like play,
And joyed to find it greater every day!
The angel stopped him with uplifted hand,
And gave without delay his Lord's command:
"He whom thou servest here would have thee go
"Alone to Spiran's huts, across the snow,
"To serve Him there." Ere Asmiel breathed again
The eager answer leaped to meet him, "When?"

The angel's face with inward joy grew bright, And all his figure glowed with heavenly light; February, 1902.

He took the golden circlet from his brow
And gave the crown to Fermor, answering, "Now!
"For thou hast met the Master's hidden test,
"And I have found the man who loves Him best.
"Not thine, nor mine, to question or reply
"When He commands us, asking 'how?' or 'why?'
"He knows the cause; His ways are wise and just;
"Who serves the King must serve with perfect trust."

THE WHITE BEES

T

LEGEND

Long ago Apollo called to Aristæus, youngest of the shepherds, Saying, "I will make you keeper of my bees."

Golden were the hives, and golden was the honey; golden, too, the music,

Where the honey-makers hummed among the trees.

Happy Aristæus loitered in the garden, wandered in the orchard, Careless and contented, indolent and free;

Lightly took his labour, lightly took his pleasure, till the fated moment

When across his pathway came Eurydice.

Then her eyes enkindled burning love within him; drove him wild with longing,

For the perfect sweetness of her flower-like face;

Eagerly he followed, while she fled before him, over mead and mountain,

On through field and forest, in a breathless race.

But the nymph, in flying, trod upon a serpent; like a dream she vanished;

Pluto's chariot bore her down among the dead!

Lonely Aristæus, sadly home returning, found his garden empty, All the hives deserted, all the music fled.

Mournfully bewailing,—"ah, my honey-makers, where have you departed?"

Far and wide he sought them, over sea and shore;

Foolish is the tale that says he ever found them, brought them home in triumph,—

Joys that once escape us fly for evermore.

Yet I dream that somewhere, clad in downy whiteness, dwell the honey-makers,

In aerial gardens that no mortal sees:

And at times returning, lo, they flutter round us, gathering mystic harvest,—

So I weave the legend of the long-lost bees.

Ħ

THE SWARMING OF THE BEES

Who can tell the hiding of the white bees' nest?

Who can trace the guiding of their swift home flight?

Far would be his riding on a lifelong quest:

Surely ere it ended would his beard grow white.

Never in the coming of the rose-red Spring, Never in the passing of the wine-red Fall, May you hear the humming of the white bee's wing Murmur o'er the meadow, ere the night bells call.

Wait till winter hardens in the cold grey sky,
Wait till leaves are fallen and the brooks all freeze,
Then above the gardens where the dead flowers lie,
Swarm the merry millions of the wild white bees.



Out of the high-built airy hive,
Deep in the clouds that veil the sun,
Look how the first of the swarm arrive;
Timidly venturing, one by one,
Down through the tranquil air,
Wavering here and there,
Large, and lazy in flight,—
Caught by a lift of the breeze,
Tangled among the naked trees,—
Dropping then, without a sound,
Feather-white, feather-light,
To their rest on the ground.



Thus the swarming is begun. Count the leaders, every one Perfect as a perfect star Till the slow descent is done. Look beyond them, see how far
Down the vistas dim and grey,
Multitudes are on the way.
Now a sudden brightness
Dawns within the sombre day,
Over fields of whiteness;
And the sky is swiftly alive
With the flutter and the flight
Of the shimmering bees, that pour
From the hidden door of the hive
Till you can count no more.



Now on the branches of hemlock and pine
Thickly they settle and cluster and swing,
Bending them low; and the trellised vine
And the dark elm-boughs are traced with a line
Of beauty wherever the white bees cling.
Now they are hiding the wrecks of the flowers,
Softly, softly, covering all,

Over the grave of the summer hours
Spreading a silver pall.

Now they are building the broad roof ledge, Into a cornice smooth and fair, Moulding the terrace, from edge to edge, Into the sweep of a marble stair. Wonderful workers, swift and dumb, Numberless myriads, still they come,
Thronging ever faster, faster, faster!
Where is their queen? Who is their master?
The gardens are faded, the fields are frore,—
What is the honey they toil to store
In the desolate day, where no blossoms gleam?
Forgetfulness and a dream!



But now the fretful wind awakes; I hear him girding at the trees; He strikes the bending boughs, and shakes The quiet clusters of the bees To powdery drift: He tosses them away, He drives them like spray; He makes them veer and shift Around his blustering path. In clouds blindly whirling, In rings madly swirling, Full of crazy wrath, So furious and fast they fly They blur the earth and blot the sky In wild, white mirk. They fill the air with frozen wings And tiny, angry, icy stings; They blind the eyes, and choke the breath, They dance a maddening dance of death
Around their work,

Sweeping the cover from the hill,
Heaping the hollows deeper still,
Effacing every line and mark,
And swarming, storming in the dark
Through the long night;
Until, at dawn, the wind lies down
Weary of fight;
The last torn cloud, with trailing gown,
Passes the open gates of light;
And the white bees are lost in flight.



Look how the landscape glitters wide and still,
Bright with a pure surprise!

The day begins with joy, and all past ill,
Buried in white oblivion, lies

Beneath the snow-drifts under crystal skies.

New hope, new love, new life, new cheer,
Flow in the sunrise beam,—
The gladness of Apollo when he sees,
Upon the bosom of the wintry year,

The honey-harvest of his wild white bees,
Forgetfulness and a dream!

III

LEGEND

LISTEN, my beloved, while the silver morning, like a tranquil vision,

Fills the world around us and our hearts with peace;

Quiet is the close of Aristæus' legend, happy is the ending— Listen while I tell you how he found release.

Many months he wandered far away in sadness, desolately thinking

Only of the vanished joys he could not find;

Till the great Apollo, pitying his shepherd, loosed him from the burden

Of a dark, reluctant, backward-looking mind.

Then he saw around him all the changeful beauty of the changing seasons,

In the world-wide regions where his journey lay;

Birds that sang to cheer him, flowers that bloomed beside him, stars that shone to guide him,—

Traveller's joy was plenty all along the way!

Everywhere he journeyed strangers made him welcome, listened while he taught them

Secret lore of field and forest he had learned:

How to train the vines and make the olives fruitful; how to guard the sheepfolds;

How to stay the fever when the dog-star burned.

Friendliness and blessing followed in his footsteps; richer were the harvests,

Happier the dwellings, wheresoe'er he came;

Little children loved him, and he left behind him, in the hour of parting,

Memories of kindness and a god-like name.

So he travelled onward, desolate no longer, patient in his seeking,

Reaping all the wayside comfort of his quest;

Till at last in Thracia, high upon Mount Hæmus, far from human dwelling,

Weary Aristæus laid him down to rest.

Then the honey-makers, clad in downy whiteness, fluttered soft around him,

Wrapt him in a dreamful slumber pure and deep.

This is life, beloved: first a sheltered garden, then a troubled journey,

Joy and pain of seeking,—and at last we sleep!

NEW YEAR'S EVE

Ι

The other night I had a dream, most clear And comforting, complete
In every line, a crystal sphere,
And full of intimate and secret cheer.
Therefore I will repeat
That vision, dearest heart, to you,
As of a thing not feigned, but very true,
Yes, true as ever in my life befell;
And you, perhaps, can tell
Whether my dream was really sad or sweet.

\mathbf{II}

The shadows flecked the elm-embowered street I knew so well, long, long ago;
And on the pillared porch where Marguerite
Had sat with me, the moonlight lay like snow.
But she, my comrade and my friend of youth,
Most gaily wise,
Most innocently loved,—
She of the blue-grey eyes
That ever smiled and ever spoke the truth,—

From that familiar dwelling, where she moved Like mirth incarnate in the years before, Had gone into the hidden house of Death. I thought the garden wore White mourning for her blessed innocence, And the syringa's breath Came from the corner by the fence, Where she had made her rustic seat. With fragrance passionate, intense, As if it breathed a sigh for Marguerite. My heart was heavy with a sense Of something good for ever gone. I sought Vainly for some consoling thought, Some comfortable word that I could say To her sad father, whom I visited again For the first time since she had gone away. The bell rang shrill and lonely,—then The door was opened, and I sent my name To him,—but ah! 'twas Marguerite who came! There in the dear old dusky room she stood Beneath the lamp, just as she used to stand, In tender mocking mood. "You did not ask for me," she said, "And so I will not let you take my hand; "But I must hear what secret talk you planned

"With father. Come, my friend, be good,

- "And tell me your affairs of state:
- "Why you have stayed away and made me wait
- "So long. Sit down beside me here,-
- "And, do you know, it seems a year
- "Since we have talked together,—why so late?"

Amazed, incredulous, confused with joy I hardly dared to show, And stammering like a boy, I took the place she showed me at her side; And then the talk flowed on with brimming tide Through the still night, While she with influence light Controlled it, as the moon the flood. She knew where I had been, what I had done, What work was planned, and what begun; My troubles, failures, fears she understood, And touched them with a heart so kind. That every care was melted from my mind, And every hope grew bright, And life seemed moving on to happy ends. (Ah, what self-beggared fool was he That said a woman cannot be The very best of friends?) Then there were memories of old times, Recalled with many a gentle jest;

And at the last she brought the book of rhymes We made together, trying to translate The Songs of Heine (hers were always best).

"Now come," she said,

"To-night we will collaborate

"Again; I'll put you to the test.

"Here's one I never found the way to do,-

"The simplest are the hardest ones, you know,-

"I give this song to you."

And then she read:

Mein kind, wir waren Kinder, . Zwei Kinder, jung und froh.

But all the while, a silent question stirred Within me, though I dared not speak the word:

"Is it herself, and is she truly here,

"And was I dreaming when I heard

"That she was dead last year?

"Or was it true, and is she but a shade

"Who brings a fleeting joy to eye and ear,

"Cold though so kind, and will she gently fade

"When her sweet ghostly part is played

"And the light-curtain falls at dawn of day?"

But while my heart was troubled by this fear So deeply that I could not speak it out,

Lest all my happiness should disappear, I thought me of a cunning way To hide the question and dissolve the doubt. "Will you not give me now your hand, "Dear Marguerite," I asked, "to touch and hold, "That by this token I may understand "You are the same true friend you were of old?" She answered with a smile so bright and calm It seemed as if I saw the morn arise In the deep heaven of her eyes; And smiling so, she laid her palm In mine. Dear God, it was not cold But warm with vital heat! "You live!" I cried, "you live, dear Marguerite!" Then I awoke; but strangely comforted, Although I knew again that she was dead.

III

Yes, there's the dream! And was it sweet or sad? Dear mistress of my waking and my sleep, Present reward of all my heart's desire, Watching with me beside the winter fire, Interpret now this vision that I had. But while you read the meaning, let me keep The touch of you: for the Old Year with storm

Is passing through the midnight, and doth shake
The corners of the house,—and oh! my heart would break
Unless both dreaming and awake
My hand could feel your hand was warm, warm!
1905.

THE VAIN KING

In robes of Tyrian blue the King was drest,
A jewelled collar shone upon his breast,
A giant ruby glittered in his crown—
Lord of rich lands and many a splendid town.
In him the glories of an ancient line
Of sober kings, who ruled by right divine,
Were centred; and to him with loyal awe
The people looked for leadership and law.
Ten thousand knights, the safeguard of the land,
Were like a single sword within his hand;
A hundred courts, with power of life and death,
Proclaimed decrees of justice by his breath;
And all the sacred growths that men had known
Of order and of rule upheld his throne.

Proud was the King: yet not with such a heart As fits a man to play a royal part.

Not his the pride that honours as a trust The right to rule, the duty to be just:

Not his the dignity that bends to bear The monarch's yoke, the master's load of care, And labours like the peasant at his gate,

To serve the people and protect the State. Another pride was his, and other joys: To him the crown and sceptre were but toys, With which he played at glory's idle game, To please himself and win the wreaths of fame. The throne his fathers held from age to age. To his ambition seemed a fitting stage Built for King Martin to display at will. His mighty strength and universal skill. No conscious child, that, spoiled with praising, tries At every step to win admiring eyes, No favourite mountebank, whose acting draws From gaping crowds the thunder of applause, Was vainer than the King: his only thirst Was to be hailed, in every race, the first. When tournament was held, in knightly guise The King would ride the lists and win the prize; When music charmed the court, with golden lyre The King would take the stage and lead the choir; In hunting, his the lance to slay the boar; In hawking, see his falcon highest soar; In painting, he would wield the master's brush; In high debate,—"the King is speaking! Hush!" Thus, with a restless heart, in every field He sought renown, and made his subjects yield. But while he played the petty games of life

His kingdom fell a prey to inward strife; Corruption through the court unheeded crept, And on the seat of honour justice slept. The strong trod down the weak; the helpless poor Groaned under burdens grievous to endure; The nation's wealth was spent in vain display, And weakness wore the nation's heart away.

Yet think not Earth is blind to human woes—
Man has more friends and helpers than he knows;
And when a patient people are oppressed,
The land that bore them feels it in her breast.
Spirits of field and flood, of heath and hill,
Are grieved and angry at the spreading ill;
The trees complain together in the night,
Voices of wrath are heard along the height,
And secret vows are sworn, by stream and strand,
To bring the tyrant low and free the land.

But little recked the pampered King of these; He heard no voice but such as praise and please. Flattered and fooled, victor in every sport, One day he wandered idly with his court Beside the river, seeking to devise New ways to show his skill to wondering eyes. There in the stream a patient angler stood.

And cast his line across the rippling flood. His silver spoil lay near him on the green: "Such fish," the courtiers cried, "were never seen! "Three salmon longer than a cloth-yard shaft-"This man must be the master of his craft!" "An easy art!" the jealous King replied: "Myself could learn it better, if I tried, "And catch a hundred larger fish a week— "Wilt thou accept the challenge, fellow? Speak!" The angler turned, came near, and bent his knee: "'Tis not for kings to strive with such as me; "Yet if the King commands it, I obey. "But one condition of the strife I pray: "The fisherman who brings the least to land "Shall do whate'er the other may command." Loud laughed the King: "A foolish fisher thou! "For I shall win, and rule thee then as now."

Then to Prince John, a sober soul, sedate And slow, King Martin left the helm of State, While to the novel game with eager zest He all his time and all his powers addressed. Sure such a sight was never seen before! In robe and crown the monarch trod the shore; His golden hooks were decked with feathers fine, His jewelled reel ran out a silken line.

With kingly strokes he flogged the crystal stream; Far-off the salmon saw his tackle gleam; Careless of kings, they eyed with calm disdain The gaudy lure, and Martin fished in vain. On Friday, when the week was almost spent, He scanned his empty creel with discontent, Called for a net, and cast it far and wide, And drew—a thousand minnows from the tide! Then came the angler to conclude the match, And at the monarch's feet spread out his catch-A hundred salmon, greater than before. "I win!" he cried: "the King must pay the score." Then Martin, angry, threw his tackle down: "Rather than lose this game I'd lose my crown!" "Nay, thou hast lost them both," the angler said; And as he spoke a wondrous light was shed Around his form: he dropped his garments mean, And in his place the River-god was seen. "Thy vanity has brought thee in my power, "And thou must pay the forfeit at this hour: "For thou hast shown thyself a royal fool, "Too proud to angle, and too vain to rule, "Eager to win in every trivial strife,-"Go! Thou shalt fish for minnows all thy life!" Wrathful, the King the magic sentence heard; He strove to answer, but he only chirr-r-ed:

His royal robe was changed to wings of blue, His crown a ruby crest,—away he flew!

So every summer day along the stream The vain King-fisher darts, an azure gleam, And scolds the angler with a mocking scream. *A pril*, 1904.

THE FOOLISH FIR-TREE

A tale that the poet Rückert told To German children, in days of old; Disguised in a random, rollicking rhyme Like a merry mummer of ancient time, And sent, in its English dress, to please The little folk of the Christmas trees.

A LITTLE fir grew in the midst of the wood Contented and happy, as young trees should. His body was straight and his boughs were clean; And summer and winter the bountiful sheen Of his needles bedecked him, from top to root, In a beautiful, all-the-year, evergreen suit.

But a trouble came into his heart one day,
When he saw that the other trees were gay
In the wonderful raiment that summer weaves
Of manifold shapes and kinds of leaves:
He looked at his needles so stiff and small,
And thought that his dress was the poorest of all.
Then jealousy clouded the little tree's mind,
And he said to himself, "It was not very kind
"To give such an ugly old dress to a tree!
"If the fays of the forest would only ask me,
"I'd tell them how I should like to be dressed,—

"In a garment of gold, to bedazzle the rest!"
So he fell asleep, but his dreams were bad.
When he woke in the morning, his heart was glad;
For every leaf that his boughs could hold
Was made of the brightest beaten gold.
I tell you, children, the tree was proud;
He was something above the common crowd;
And he tinkled his leaves, as if he would say
To a pedlar who happened to pass that way,
"Just look at me! Don't you think I am fine?
"And wouldn't you like such a dress as mine?"
"Oh, yes!" said the man, "and I really guess
"I must fill my pack with your beautiful dress."
So he picked the golden leaves with care,
And left the little tree shivering there.

"Oh, why did I wish for golden leaves?"
The fir-tree said, "I forgot that thieves
"Would be sure to rob me in passing by.
"If the fairies would give me another try,
"I'd wish for something that cost much less,
"And be satisfied with glass for my dress!"

The fairies granted his wish once more. When the night was gone, and the sun rose clear, The tree was a crystal chandelier;

Then he fell asleep; and, just as before,

5 10 W

And it seemed, as he stood in the morning light,
That his branches were covered with jewels bright.
"Aha!" said the tree. "This is something great!"
And he held himself up, very proud and straight;
But a rude young wind through the forest dashed,
In a reckless temper, and quickly smashed
The delicate leaves. With a clashing sound
They broke into pieces and fell on the ground,
Like a silvery, shimmering shower of hail,
And the tree stood naked and bare to the gale.

Then his heart was sad; and he cried, "Alas "For my beautiful leaves of shining glass! "Perhaps I have made another mistake "In choosing a dress so easy to break. "If the fairies only would hear me again "I'd ask them for something both pretty and plain: "It wouldn't cost much to grant my request,—"In leaves of green lettuce I'd like to be dressed!" By this time the fairies were laughing, I know; But they gave him his wish in a second; and so With leaves of green lettuce, all tender and sweet, The tree was arrayed, from his head to his feet. "I knew it!" he cried, "I was sure I could find "The sort of a suit that would be to my mind. "There's none of the trees has a prettier dress,

"And none as attractive as I am, I guess."

But a goat, who was taking an afternoon walk,
By chance overheard the fir-tree's talk.

So he came up close for a nearer view;—

"My salad!" he bleated, "I think so too!

"You're the most attractive kind of a tree,

"And I want your leaves for my five-o'clock tea."

So he ate them all without saying grace,
And walked away with a grin on his face;

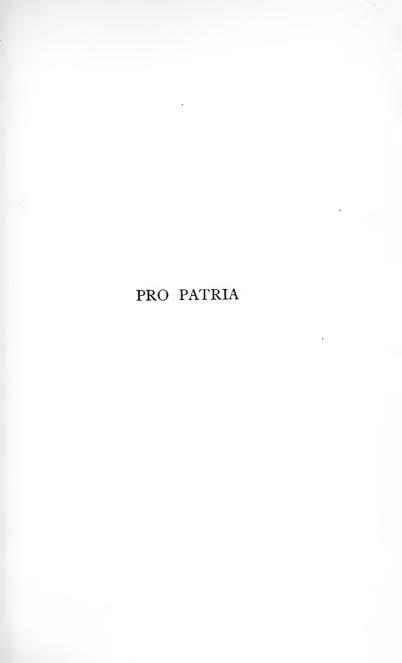
While the little tree stood in the twilight dim,

With never a leaf on a single limb.

Then he sighed and groaned; but his voice was weak—
He was so ashamed that he could not speak.
He knew at last he had been a fool,
To think of breaking the forest rule,
And choosing a dress himself to please,
Because he envied the other trees.
But it couldn't be helped, it was now too late,
He must make up his mind to a leafless fate!
So he let himself sink in a slumber deep,
But he moaned and he tossed in his troubled sleep,
Till the morning touched him with joyful beam,
And he woke to find it was all a dream.
For there in his evergreen dress he stood,
A pointed fir in the midst of the wood!

His branches were sweet with the balsam smell, His needles were green when the white snow fell. And always contented and happy was he,— The very best kind of a Christmas tree.







PATRIA

I would not even ask my heart to say

If I could love another land as well
As thee, my country, had I felt the spell
Of Italy at birth, or learned to obey
The charm of France, or England's mighty sway.
I would not be so much an infidel
As once to dream, or fashion words to tell,
What land could hold my heart from thee away.

For like a law of nature in my blood
I feel thy sweet and secret sovereignty,
And woven through my soul thy vital sign.
My life is but a wave and thou the flood;
I am a leaf and thou the mother-tree;
Nor should I be at all, were I not thine.
June, 1904.

AMERICA

I LOVE thine inland seas,
Thy groves of giant trees,
Thy rolling plains;
Thy rivers' mighty sweep,
Thy mystic canyons deep,
Thy mountains wild and steep,
All thy domains;

Thy silver Eastern strands,
Thy Golden Gate that stands
Wide to the West;
Thy flowery Southland fair,
Thy sweet and crystal air,—
O land beyond compare,
Thee I love best!

March, 1906.

THE ANCESTRAL DWELLINGS

DEAR to my heart are the ancestral dwellings of America, Dearer than if they were haunted by ghosts of royal splendour; They are simple enough to be great in their friendly dignity,— Homes that were built by the brave beginners of a nation.

I love the old white farmhouses nestled in New England valleys, Ample and long and low, with elm-trees feathering over them: Borders of box in the yard, and lilacs, and old-fashioned roses,

- A fan-light above the door, and little square panes in the windows,
- The wood-shed piled with maple and birch and hickory ready for winter,
- The gambrel-roof with its garret crowded with household relics,—
- All the tokens of prudent thrift and the spirit of self-reliance.
- I love the weather-beaten, shingled houses that front the ocean;
- They seem to grow out of the rocks, there is something indomitable about them:

- Their backs are bowed, and their sides are covered with lichens;
- Soft in their colour as grey pearls, they are full of a patient courage.
- Facing the briny wind on a lonely shore they stand undaunted, While the thin blue pennant of smoke from the square-built chimney
- Tells of a haven for man, with room for a hearth and a cradle.
- I love the stately southern mansions with their tall white columns,
- They look through avenues of trees, over fields where the cotton is growing;
- I can see the flutter of white frocks along their shady porches, Music and laughter float from the windows, the yards are full of hounds and horses.
- Long since the riders have ridden away, yet the houses have not forgotten,
- They are proud of their name and place, and their doors are always open,
- For the thing they remember best is the pride of their ancient hospitality.
- In the towns I love the discreet and tranquil Quaker dwellings, With their demure brick faces and immaculate marble doorsteps;

- And the gabled houses of the Dutch, with their high stoops and iron railings,
- (I can see their little brass knobs shining in the morning sunlight);
- And the solid self-contained houses of the descendants of the Puritans,
- Frowning on the street with their narrow doors and dormerwindows;
- And the triple-galleried, many-pillared mansions of Charleston, Standing open sideways in their gardens of roses and magnolias.
- Yes, they are all dear to my heart, and in my eyes they are beautiful;
- For under their roofs were nourished the thoughts that have made the nation;
- The glory and strength of America come from her ancestral dwellings.

July, 1909.

HUDSON'S LAST VOYAGE

THE SHALLOP ON HUDSON BAY

JUNE 22, 1611

One sail in sight upon the lonely sea,
And only one! For never ship but mine
Has dared these waters. We were first,
My men, to battle in between the bergs
And floes to these wide waves. This gulf is mine;
I name it! and that flying sail is mine!
And there, hull-down below that flying sail,
The ship that staggers home is mine, mine, mine!
My ship Discoverie!

The sullen dogs
Of mutineers, the bitches' whelps that snatched
Their food and bit the hand that nourished them,
Have stolen her. You ingrate Henry Greene,
I picked you from the gutter of Houndsditch,
And paid your debts, and kept you in my house,
And brought you here to make a man of you!
You Robert Juet, ancient, crafty man,
Toothless and tremulous, how many times

Have I employed you as a master's mate
To give you bread? And you Abacuck Prickett,
You sailor-clerk, you salted puritan,
You knew the plot and silently agreed,
Salving your conscience with a pious lie!
Yes, all of you—hounds, rebels, thieves! Bring back
My ship!

Too late,—I rave,—they cannot hear
My voice: and if they heard, a drunken laugh
Would be their answer; for their minds have caught
The fatal firmness of the fool's resolve,
That looks like courage but is only fear.
They'll blunder on, and lose my ship, and drown,—
Or blunder home to England and be hanged.
Their skeletons will rattle in the chains
Of some tall gibbet on the Channel cliffs,
While passing mariners look up and say:
"Those are the rotten bones of Hudson's men
"Who left their captain in the frozen North!"

O God of justice, why hast Thou ordained Plans of the wise and actions of the brave Dependent on the aid of fools and cowards?

Look,—there she goes,—her topsails in the sun Gleam from the ragged ocean edge, and drop Clean out of sight! So let the traitors go Clean out of mind! We'll think of braver things! Come closer in the boat, my friends. John King, You take the tiller, keep her head nor'west. You Philip Staffe, the only one who chose Freely to share our little shallop's fate, Rather than travel in the hell-bound ship,— Too good an English sailor to desert Your crippled comrades,—try to make them rest More easy on the thwarts. And John, my son, My little shipmate, come and lean your head Against my knee. Do you remember still The April morn in Ethelburga's church, Five years ago, when side by side we kneeled To take the sacrament with all our men, Before the Hopewell left St. Catherine's docks On our first voyage? It was then I vowed My sailor-soul and yours to search the sea Until we found the water-path that leads From Europe into Asia.

I believe

That God has poured the ocean round His world, Not to divide, but to unite the lands.

And all the English captains that have dared In little ships to plough uncharted waves,—

Davis and Drake, Hawkins and Frobisher,

Raleigh and Gilbert,—all the other names,—
Are written in the chivalry of God
As men who served His purpose. I would claim
A place among that knighthood of the sea;
And I have earned it, though my quest should fail!
For, mark me well, the honour of our life
Derives from this: to have a certain aim
Before us always, which our will must seek
Amid the peril of uncertain ways.
Then, though we miss the goal, our search is crowned
With courage, and we find along our path
A rich reward of unexpected things.
Press towards the aim: take fortune as it fares!

I know not why, but something in my heart
Has always whispered, "Westward seek your goal!"
Three times they sent me east, but still I turned
The bowsprit west, and felt among the floes
Of ruttling ice along the Greenland coast,
And down the rugged shore of Newfoundland,
And past the rocky capes and wooded bays
Where Gosnold sailed,—like one who feels his way
With outstretched hand across a darkened room,—
I groped among the inlets and the isles,
To find the passage to the Land of Spice.
I have not found it yet,—but I have found

Things worth the finding!

Son, have you forgot Those mellow autumn days, two years ago, When first we sent our little ship Half-Moon,-The flag of Holland floating at her peak,-Across a sandy bar, and sounded in Among the channels, to a goodly bay Where all the navies of the world could ride? A fertile island that the redmen called Manhattan, lay above the bay: the land Around was bountiful and friendly fair. But never land was fair enough to hold The seaman from the calling of the sea. And so we bore to westward of the isle, Along a mighty inlet, where the tide Was troubled by a downward-flowing flood That seemed to come from far away,—perhaps From some mysterious gulf of Tartary? Inland we held our course; by palisades Of naked rock; by rolling hills adorned With forests rich in timber for great ships; Through narrows where the mountains shut us in With frowning cliffs that seemed to bar the stream; And then through open reaches where the banks Sloped to the water gently, with their fields Of corn and lentils smiling in the sun.

Ten days we voyaged through that placid land, Until we came to shoals, and sent a boat Upstream to find,—what I already knew,— We travelled on a river, not a strait.

But what a river! God has never poured A stream more royal through a land more rich. Even now I see it flowing in my dream, While coming ages people it with men Of manhood equal to the river's pride. I see the wigwams of the redmen changed To ample houses, and the tiny plots Of maize and green tobacco broadened out To prosperous farms, that spread o'er hill and dale The many-coloured mantle of their crops. I see the terraced vineyard on the slope Where now the fox-grape loops its tangled vine And cattle feeding where the red deer roam, And wild-bees gathered into busy hives To store the silver comb with golden sweet; And all the promised land begins to flow With milk and honey. Stately manors rise Along the banks, and castles top the hills, And little villages grow populous with trade, Until the river runs as proudly as the Rhine,— The thread that links a hundred towns and towers! Now looking deeper in my dream, I see
A mighty city covering the isle
They call Manhattan, equal in her state
To all the older capitals of earth,—
The gateway city of a golden world,—
A city girt with masts, and crowned with spires,
And swarming with a million busy men,
While to her open door across the bay
The ships of all the nations flock like doves.
My name will be remembered there, the world
Will say, "This river and this isle were found
By Henry Hudson, on his way to seek
The Northwest Passage."

Yes, I seek it still,-

My great adventure and my guiding star!
For look ye, friends, our voyage is not done;
We hold by hope as long as life endures!
Somewhere among these floating fields of ice,
Somewhere along this westward widening bay,
Somewhere beneath this luminous northern night,
The channel opens to the Farthest East,—
I know it,—and some day a little ship
Will push her bowsprit in, and battle through!
And why not ours,—to-morrow,—who can tell?
The lucky chance awaits the fearless heart!
These are the longest days of all the year;

The world is round and God is everywhere, And while our shallop floats we still can steer.

So point her up, John King, nor'west by north. We'll keep the honour of a certain aim Amid the peril of uncertain ways, And sail ahead, and leave the rest to God.

July, 1909.

SEA-GULLS OF MANHATTAN

CHILDREN of the elemental mother,
Born upon some lonely island shore
Where the wrinkled ripples run and whisper,
Where the crested billows plunge and roar;
Long-winged, tireless roamers and adventurers,
Fearless breasters of the wind and sea,
In the far-off solitary places
I have seen you floating wild and free!

Here the high-built cities rise around you;
Here the cliffs that tower east and west,
Honeycombed with human habitations,
Have no hiding for the sea-bird's nest:
Here the river flows begrimed and troubled;
Here the hurrying, panting vessels fume,
Restless, up and down the watery highway,
While a thousand chimneys vomit gloom.

Toil and tumult, conflict and confusion,

Clank and clamour of the vast machine

Human hands have built for human bondage—

Yet amid it all you float serene;

Circling, soaring, sailing, swooping lightly

Down to glean your harvest from the wave;
In your heritage of air and water,

You have kept the freedom Nature gave.

Even so the wild-woods of Manhattan
Saw your wheeling flocks of white and grey;
Even so you fluttered, followed, floated,
Round the Half-Moon creeping up the bay;
Even so your voices creaked and chattered,
Laughing shrilly o'er the tidal rips,
While your black and beady eyes were glistening
Round the sullen British prison-ships.

Children of the elemental mother,
Fearless floaters 'mid the double blue,
From the crowded boats that cross the ferries
Many a longing heart goes out to you.
Though the cities climb and close around us,
Something tells us that our souls are free,
While the sea-gulls fly above the harbour,
While the river flows to meet the sea!

December, 1905.

A BALLAD OF CLAREMONT HILL

The roar of the city is low,

Muffled by new-fallen snow,

And the sign of the wintry moon is small and round and still.

Will you come with me to-night,

To see a pleasant sight

Away on the river-side, at the edge of Claremont Hill?

"And what shall we see there,
But streets that are new and bare,
And many a desolate place that the city is coming to fill;
And a soldier's tomb of stone,
And a few trees standing alone—
Will you walk for that through the cold, to the edge of Claremont Hill?"

But there's more than that for me,
In the place that I fain would see:
There's a glimpse of the grace that helps us all to bear life's ill,—
A touch of the vital breath
That keeps the world from death,—
A flower that never fades, on the edge of Claremont Hill.

For just where the road swings round, In a narrow strip of ground,

Where a group of forest trees are lingering fondly still,

There's a grave of the olden time,

When the garden bloomed in its prime,

And the children laughed and sang on the edge of Claremont Hill.

The marble is pure and white, And even in this dim light,

e,

You may read the simple words that are written there if you will;

You may hear a father tell Of the child he loved so well,

A hundred years ago, on the edge of Claremont Hill.

The tide of the city has rolled
Across that bower of old,
And blotted out the beds of the rose and the daffodil;
But the little playmate sleeps,
And the shrine of love still keeps
A record of happy days, on the edge of Claremont Hill.

The river is pouring down

To the crowded, careless town,

Where the intricate wheels of trade are grinding on like a mill;

But the clamorous noise and strife
Of the hurrying waves of life
Flow soft by this haven of peace on the edge of Claremont Hill.

And after all, my friend,
When the tale of our years shall end,
Be it long or short, or lowly or great, as God may will,
What better praise could we hear,
Than this of the child so dear:
You have made my life more sweet, on the edge of Claremo

You have made my life more sweet, on the edge of Claremont Hill?

December, 1896.

URBS CORONATA

(Song for the City College of New York)

O YOUNGEST of the giant brood
Of cities far-renowned;
In wealth and glory thou hast passed
Thy rivals at a bound;
Thou art a mighty queen, New York;
And how wilt thou be crowned?

"Weave me no palace-wreath of Pride,"
The royal city said;
"Nor forge of frowning fortress-walls
A helmet for my head;
But let me wear a diadem
Of Wisdom's towers instead."

She bowed herself, she spent herself,
She wrought her will forsooth,
And set upon her island height
A citadel of Truth,
A house of Light, a home of Thought,
A shrine of noble Youth.

Stand here, ye City College towers,
And look both up and down;
Remember all who wrought for you
Within the toiling town;
Remember all their hopes for you,
And be the City's Crown.

June, 1908.

MERCY FOR ARMENIA

Ι

THE TURK'S WAY

STAND back, ye messengers of mercy! Stand
Far off, for I will save my troubled folk
In my own way. So the false Sultan spoke;
And Europe, hearkening to his base command,
Stood still to see him heal his wounded land.
Through blinding snows of winter and through smoke
Of burning towns, she saw him deal the stroke
Of cruel mercy that his hate had planned.
Unto the prisoners and the sick he gave
New tortures, horrible, without a name;
Unto the thirsty, blood to drink; a sword
Unto the hungry; with a robe of shame
He clad the naked, making life abhorred;
He saved by slaughter, and denied a grave.

1806.

II

AMERICA'S WAY

But thou, my country, though no fault be thine

For that red horror far across the sea;

Though not a tortured wretch can point to thee,
And curse thee for the selfishness supine

Of those great Powers that cowardly combine

To shield the Turk in his iniquity;

Yet, since thy hand is innocent and free,
Arise, and show the world the way divine!

Thou canst not break the oppressor's iron rod,

But thou canst help and comfort the oppressed;

Thou canst not loose the captive's heavy chain,

But thou canst bind his wounds and soothe his pain.

Armenia calls thee, Sovereign of the West,

To play the Good Samaritan for God.

SICILY, DECEMBER, 1908

O GARDEN isle, beloved by Sun and Sea,
Whose bluest billows kiss thy curving bays,
Whose light infolds thy hills with golden rays,
Filling with fruit each dark-leaved orange-tree,
What hidden hatred hath the Earth for thee,
That once again, in these dark, dreadful days,
Breaks forth in trembling rage, and swiftly lays
Thy beauty waste in wreck and agony!
Is Nature, then, a strife of jealous powers,
And man the plaything of unconscious fate?
Not so, my troubled heart! God reigns above,
And man is greatest in his darkest hours.
Walking amid the cities desolate,
Behold the Son of God in human love!
Tertius and Henry van Dyke.

JEANNE D'ARC

The land was broken in despair,

The princes quarrelled in the dark,

When clear and tranquil, through the troubled air

Of selfish minds and wills that did not dare,

Your star arose, Jeanne d'Arc.

O virgin breast with lilies white,
O sun-burned hand that bore the lance,
You taught the prayer that helps men to unite,
You brought the courage equal to the fight,
You gave a heart to France!

Your king was crowned, your country free,
At Rheims you had your soul's desire:
And then, at Rouen, maid of Domrémy,
The black-robed judges gave your victory
The martyr's crown of fire.

And now again the times are ill,

And doubtful leaders miss the mark;

The people lack the single faith and will

To make them one,—your country needs you still,—

Come back again, Jeanne d'Arc!

O woman-star, arise once more
And shine to bid your land advance:
The old heroic trust in God restore,
Renew the brave, unselfish hopes of yore,
And give a heart to France!
Paris, July, 1909.

NATIONAL MONUMENTS

Count not the cost of honour to the dead!

The tribute that a mighty nation pays

To those who loved her well in former days

Means more than gratitude for glories fled;

For every noble man that she hath bred,

Lives in the bronze and marble that we raise,

Immortalised by art's immortal praise,

To lead our sons as he our fathers led.

These monuments of manhood strong and high
Do more than forts or battle-ships to keep
Our dear-bought liberty. They fortify
The heart of youth with valour wise and deep;
They build eternal bulwarks, and command
Immortal hosts to guard our native land.
February, 1905.

THE MONUMENT OF FRANCIS MAKEMIE

(Presbyter of Christ in America, 1683-1708)

To thee, plain hero of a rugged race,

We bring the meed of praise too long delayed!

Thy fearless word and faithful work have made

For God's Republic firmer resting-place

In this New World: for thou hast preached the grace

And power of Christ in many a forest glade,

Teaching the truth that leaves men unafraid

Of frowning tyranny or death's dark face.

Oh, who can tell how much we owe to thee,
Makemie, and to labour such as thine,
For all that makes America the shrine
Of faith untrammelled and of conscience free?
Stand here, grey stone, and consecrate the sod
Where rests this brave Scotch-Irish man of God!
April, 1908.

THE STATUE OF SHERMAN BY ST. GAUDENS

This is the soldier brave enough to tell
The glory-dazzled world that 'war is hell':
Lover of peace, he looks beyond the strife,
And rides through hell to save his country's life.

A pril, 1904.

"AMERICA FOR ME"

'Tis fine to see the Old World, and travel up and down Among the famous palaces and cities of renown,

To admire the crumbly castles and the statues of the kings,—
But now I think I've had enough of antiquated things.

So it's home again, and home again, America for me!

My heart is turning home again, and there I long to be,

In the land of youth and freedom beyond the ocean bars,

Where the air is full of sunlight and the flag is full of stars.

Oh, London is a man's town, there's power in the air;
And Paris is a woman's town, with flowers in her hair;
And it's sweet to dream in Venice, and it's great to study Rome;
But when it comes to living there is no place like home.

I like the German fir-woods, in green battalions drilled; I like the gardens of Versailles with flashing fountains filled; But, oh, to take your hand, my dear, and ramble for a day In the friendly western woodland where Nature has her way!

I know that Europe's wonderful, yet something seems to lack: The Past is too much with her, and the people looking back.

But the glory of the Present is to make the Future free,— We love our land for what she is and what she is to be.

Oh, it's home again, and home again, America for me! I want a ship that's westward bound to plough the rolling sea, To the blessed Land of Room Enough beyond the ocean bars, Where the air is full of sunlight and the flag is full of stars June, 1909.

THE BUILDERS

ODE FOR THE HUNDRED AND FIFTIETH ANNIVERSARY OF PRINCETON COLLEGE

OCTOBER 21, 1896

Ι

Into the dust of the making of man Spirit was breathed when his life began, Lifting him up from his low estate, With masterful passion, the wish to create. Out of the dust of his making, man Fashioned his works as the ages ran; Fortress, and palace, and temple, and tower, Filling the world with the proof of his power. Over the dust that awaits him, man, Building the walls that his pride doth plan, Dreams they will stand in the light of the sun Bearing his name till Time is done.

TI

The monuments of mortals

Are as the glory of the grass;
Through Time's dim portals

A voiceless, viewless wind doth pass,
The blossoms fall before it in a day,

The forest monarchs year by year decay, And man's great buildings slowly fade away.

One after one,
They pay to that dumb breath
The tribute of their death,
And are undone.

The towers incline to dust, The massive girders rust, The domes dissolve in air, The pillars that upbear

The lofty arches crumble, stone by stone, While man the builder looks about him in despair, For all his works of pride and power are overthrown.

III

A Voice came from the sky:

"Set thy desires more high.

Thy buildings fade away

Because thou buildest clay.

Now make the fabric sure

With stones that will endure!

Hewn from the spiritual rock,

The immortal towers of the soul

At Death's dissolving touch shall mock,

And stand secure while æons roll."

IV

Well did the wise in heart rejoice

To hear the summons of that Voice,

And patiently begin

The builder's work within,—
Houses not made with hands,
Nor founded on the sands.

And thou, Revered Mother, at whose call
We come to keep thy joyous festival,
And celebrate thy labours on the walls of Truth
Through sevenscore years and ten of thine eternal youth—

A master builder thou,
And on thy shining brow,
Like Cybele, in fadeless light dost wear
A diadem of turrets strong and fair.

V

I see thee standing in a lonely land,
But late and hardly won from solitude,
Unpopulous and rude,—
On that far western shore I see thee stand,
Like some young goddess from a brighter strand,
While in thine eyes a radiant thought is born,
Enkindling all thy beauty like the morn.

Sea-like the forest rolled, in waves of green,
And few the lights that glimmered, leagues between.
High in the north, for fourscore years alone
Fair Harvard's earliest beacon-tower had shone
When Yale was lighted, and an answering ray
Flashed from the meadows by New Haven Bay.
But deeper spread the forest, and more dark,
Where first Neshaminy received the spark
Of sacred learning to a woodland camp,
And Old Log College glowed with Tennant's lamp.
Thine, Alma Mater, was the larger sight,
That saw the future of that trembling light,
And thine the courage, thine the stronger will,
That built its loftier home on Princeton Hill.

"New light!" men cried, and murmured that it came From an unsanctioned source with lawless flame; It shone too free, for still the church and school Must only shine according to their rule.

But Princeton answered, in her nobler mood, "God made the light, and all the light is good. There is no war between the old and new; The conflict lies between the false and true. The stars, that high in heaven their courses run, In glory differ, but their light is one. The beacons, gleaming o'er the sea of life,

Are rivals but in radiance, not in strife. Shine on, ye sister-towers, across the night! I too will build a lasting house of light."

VI

Brave was that word of faith and bravely was it kept; With never-wearying zeal that faltered not, nor slept, Our Alma Mater toiled, and while she firmly laid The deep foundation-walls, at all her toil she prayed. And men who loved the truth because it made them free, And clearly saw the twofold Word of God agree, Reading from Nature's book and from the Bible's page By the same inward ray that grows from age to age, Were built like living stones that beacon to uplift, And drawing light from heaven gave to the world the gift. Nor ever, while they searched the secrets of the earth, Or traced the stream of life through mystery to its birth, Nor ever, while they taught the lightning-flash to bear The messages of man in silence through the air, Fell from their home of light one false, perfidious ray To blind the trusting heart, or lead the life astray. But still, while knowledge grew more luminous and broad It lit the path of faith and showed the way to God.

VII

Yet not for peace alone
Labour the builders.
Work that in peace has grown
Swiftly is overthrown,
When in the darkening skies
Storm-clouds of wrath arise,
And through the cannon's crash,
War's deadly lightning-flash
Smites and bewilders.
Ramparts of strength must frown
Round every placid town
And city splendid;
All that our fathers wrought
With true prophetic thought,
Must be defended!

VIII

But who could raise protecting walls for thee,
Thou young, defenceless land of liberty?
Or who could build a fortress strong enough,
Or stretch a mighty bulwark long enough
To hold thy far-extended coast
Against the overweening host
That took the open path across the sea,

And like a tempest poured Their desolating horde,

To quench thy dawning light in gloom of tyranny?

Yet not unguarded thou wert found

When on thy shore with sullen sound

The blaring trumpets of an unjust king

Proclaimed invasion. From the ground,

In freedom's darkest hour, there seemed to spring

Unconquerable walls for her defence;

Not trembling, like those battlements of stone

That fell when Joshua's horns were blown;

But standing firm the living rampart rose,

To meet the onset of imperious foes

With a long line of brave, unyielding men.

This was thy fortress, well-defended land,
And on these walls, the patient, building hand
Of Princeton laboured with the force of ten.
Her sons were foremost in the furious fight;
Her sons were firmest to uphold the right
In council-chambers of the new-born State,

And prove that he who would be free must first be great
In heart, and high in thought, and strong
In purpose not to do or suffer wrong.
Such were the men, impregnable to fear,
Whose souls were framed and fashioned here;

And when war shook the land with threatening shock,

The men of Princeton stood like muniments of rock.

Nor has the breath of Time Dissolved that proud array Of never-broken strength: For though the rocks decay, And all the iron bands

Of earthly strongholds are unloosed at length, And buried deep in gray oblivion's sands;

The work that heroes' hands
Wrought in the light of freedom's natal day
Shall never fade away,
But lifts itself, sublime
Into a lucid sphere,
For ever calm and clear.

Preserving in the memory of the fathers' deed, A never-failing fortress for their children's need. There we confirm our hearts to-day, and read On many a stone the signature of fame, The builder's mark, our Alma Mater's name.

IX

Bear with us then a moment, while we turn
From all the present splendours of this place—
The lofty towers that like a dream have grown
Where once old Nassau Hall stood all alone—
Back to that ancient time, with hearts that burn

In filial gratitude, to trace
The glory of our mother's best degree,
In that "high son of Liberty,"
Who like a granite block,
Riven from Scotland's rock,
Stood loyal here to keep Columbia free.
Born far away beyond the ocean's tide,
He found his fatherland upon this side;
And every drop of ardent blood that ran
Through his great heart, was true American.
He held no fealty to a distant throne,
But made his new-found country's cause his own.

In peril and distress,
In toil and weariness,
When darkness overcast her
With shadows of disaster,
And voices of confusion
Proclaimed her hope delusion,
Robed in his preacher's gown,
He dared the danger down;

Like some old prophet chanting an inspired rune In freedom's councils rang the voice of Witherspoon.

And thou, my country, write it on thy heart, Thy sons are they who nobly take thy part; Who dedicates his manhood at thy shrine, Wherever born, is born a son of thine.

Foreign in name, but not in soul, they come
To find in thee their long-desired home;
Lovers of liberty and haters of disorder,
They shall be built in strength along thy border.

Dream not thy future foes
Will all be foreign-born!
Turn thy clear look of scorn
Upon thy children who oppose
Their passions wild and policies of shame
To wreck the righteous splendour of thy name.

Untaught and overconfident they rise,
With folly on their lips, and envy in their eyes:
Strong to destroy, but powerless to create,
And ignorant of all that made our fathers great,
Their hands would take away thy golden crown,
And shake the pillars of thy freedom down
In Anarchy's ocean, dark and desolate.

O should that storm descend,
What fortress shall defend
The land our fathers wrought for,
The liberties they fought for?
What bulwark shall secure
Her shrines of law, and keep her founts of justice pure?

Then, ah then,

As in the olden days,
The builders must upraise
A rampart of indomitable men.

And once again,

Dear Mother, if thy heart and hand be true,
There will be building work for thee to do;
Yea, more than once again,
Thou shalt win lasting praise,
And never-dying honour shall be thine,
For setting many stones in that illustrious line,
To stand unshaken in the swirling strife,

And guard their country's honour as her life.

x

Softly, my harp, and let me lay the touch
Of silence on these rudely clanging strings;
For he who sings
Even of noble conflicts overmuch,
Loses the inward sense of better things;
And he who makes a boast
Of knowledge, darkens that which counts the most,—
The insight of a wise humility
That reverently adores what none can see.
The glory of our life below
Comes not from what we do, or what we know,

But dwells forevermore in what we are.

There is an architecture grander far

Than all the fortresses of war,

More inextinguishably bright

Than learning's lonely towers of light.

Framing its walls of faith and hope and love

In souls of men, it lifts above

The frailty of our earthly home

An everlasting dome;

The sanctuary of the human host,

The living temple of the Holy Ghost.

XI

If music led the builders long ago,
When Arthur planned the halls of Camelot,
And made the royal city grow,
Fair as a flower in that forsaken spot;
What sweeter music shall we bring,
To weave a harmony divine
Of prayer and holy thought
Into the labours of this loftier shrine,
This consecrated hill,
Where through so many a year
Our Alma Mater's hand hath wrought,
With toil serene and still,

And heavenly hope, to rear

Eternal dwellings for the Only King?

Here let no martial trumpets blow,

Nor instruments of pride proclaim

The loud exultant notes of fame!

But let the chords be clear and low,

And let the anthem deeper grow,

And let it move more solemnly and slow;

For only such an ode

Can seal the harmony

Of that deep masonry

Wherein the soul of man is framed for God's abode.

XII

O Thou whose boundless love bestows
The joy of earth, the hope of Heaven,
And whose unchartered mercy flows
O'er all the blessings Thou hast given;
Thou by whose light alone we see;
And by whose truth our souls set free
Are made imperishably strong;
Hear Thou the solemn music of our song.

O grant the knowledge that we need To solve the questions of the mind, And light our candle while we read, To keep our hearts from going blind; Enlarge our vision to behold The wonders Thou hast wrought of old; Reveal thyself in every law, And gild the towers of truth with holy awe.

Be Thou our strength if war's wild gust
Shall rage around us, loud and fierce;
Confirm our souls and let our trust
Be like a shield that none can pierce;
Renew the courage that prevails,
The steady faith that never fails,
And make us stand in every fight
Firm as a fortress to defend the right.

O God, control us as Thou wilt,
And guide the labour of our hand;
Let all our work be surely built
As Thou, the architect, hast planned;
But whatso'er thy power shall make
Of these frail lives, do not forsake
Thy dwelling: let thy presence rest
For ever in the temple of our breast.

SPIRIT OF THE EVERLASTING BOY

ODE FOR THE HUNDREDTH ANNIVERSARY OF LAWRENCEVILLE SCHOOL

JUNE 11, 1910

Ι

THE British bard who looked on Eton's walls, Endeared by distance in the pearly gray And soft aerial blue that ever falls On English landscape with the dying day, Beheld in thought his boyhood far away, Its random raptures and its festivals

Of noisy mirth,

The brief illusion of its idle joys,

And mourned that none of these can stay

With men, whom life inexorably calls

To face the grim realities of earth.

His pensive fancy pictured there at play

From year to year the careless bands of boys,

Unconscious victims kept in golden state,

While haply they await

The dark approach of disenchanting Fate,

To hale them to the sacrifice

Of Pain and Penury and Grief and Care, Slow-withering Age, or Failure's swift despair. Half-pity and half-envy dimmed the eyes Of that old poet, gazing on the scene Where long ago his youth had flowed serene, And all the burden of his ode was this:

"Where ignorance is bliss, 'Tis folly to be wise."

 \mathbf{II}

But not for us, O plaintive elegist,
Thine epicedial tone of sad farewell
To joy in wisdom and to thought in youth!
Our western Muse would keep her tryst
With sunrise, not with sunset, and foretell
In boyhood's bliss the dawn of manhood's truth.

III

O spirit of the everlasting boy,
Alert, elate,
And confident that life is good,
Thou knockest boldly at the gate,
In hopeful hardihood,
Eager to enter and enjoy
Thy new estate.

Through the old house thou runnest everywhere, Bringing a breath of folly and fresh air. Ready to make a treasure of each toy, Or break them all in discontented mood;

Fearless of Fate,

Yet strangely fearful of a comrade's laugh; Reckless and timid, hard and sensitive; In talk a rebel, full of mocking chaff,

At heart devout conservative;
In love with love, yet hating to be kissed;
Inveterate optimist,

And judge severe,

In reason cloudy but in feeling clear; Keen critic, ardent hero-worshipper, Impatient of restraint in little ways,

Yet ever ready to confer
On chosen leaders boundless power and praise;
Adventurous spirit burning to explore
Untrodden paths where hidden danger lies,
And homesick heart looking with wistful eyes
Through every twilight to a mother's door;
Thou daring, darling, inconsistent boy,

How dull the world would be Without thy presence, dear barbarian, And happy lord of high futurity! Be what thou art, our trouble and our joy, Our hardest problem and our brightest hope!
And while thine elders lead thee up the slope
Of knowledge, let them learn from teaching thee
That vital joy is part of nature's plan,
And he who keeps the spirit of the boy
Shall gladly grow to be a happy man.

IV

What constitutes a school? Not ancient halls and ivy-mantled towers, Where dull traditions rule With heavy hand youth's lightly springing powers; Not spacious pleasure courts, And lofty temples of athletic fame. Where devotees of sports Mistake a pastime for life's highest aim; Not fashion, nor renown Of wealthy patronage and rich estate; No, none of these can crown A school with light and make it truly great. But masters, strong and wise, Who teach because they love the teacher's task, And find their richest prize In eyes that open and in minds that ask; And boys, with heart aglow

To try their youthful vigour on their work, Eager to learn and grow, And quick to hate a coward or a shirk: These constitute a school,— A vital forge of weapons keen and bright, Where living sword and tool Are tempered for true toil or noble fight! But let not wisdom scorn The hours of pleasure in the playing fields: There also strength is born, And every manly game a virtue yields. Fairness and self-control, Good-humour, pluck, and patience in the race, Will make a lad heart-whole To win with honour, lose without disgrace. Ah, well for him who gains In such a school apprenticeship to life: With him the joy of youth remains In later lessons and in larger strife!

V

On Jersey's rolling plain, where Washington, In midnight marching at the head Of ragged regiments, his army led To Princeton's victory of the rising sun;

Here in this liberal land, by battle won For Freedom and the rule Of equal rights for every child of man, Arose a democratic school, To train a virile race of sons to bear With thoughtful joy the name American, And serve the God who heard their father's prayer. No cloister, dreaming in a world remote From that real world wherein alone we live; No mimic court, where titled names denote A dignity that only worth can give; But here a friendly house of learning stood, With open door beside the broad highway, And welcomed lads to study and to play In generous rivalry of brotherhood. A hundred years have passed, and Lawrenceville, In beauty and in strength renewed, Stands with her open portal still, And neither time nor fortune brings To her deep spirit any change of mood, Or faltering from the faith she held of old. Still to the democratic creed she clings: That manhood needs nor rank nor gold To make it noble in our eyes; That every boy is born with royal right, From blissful ignorance to rise

To joy more lasting and more bright, In mastery of body and of mind, King of himself and servant of mankind.

VI

Old Lawrenceville,
Thy happy bell
Shall ring to-day,
O'er vale and hill,
O'er mead and dell,
While far away,
With silent thrill,
The echoes roll
Through many a soul,
That knew thee well,
In boyhood's day,
And loves thee still.

Ah, who can tell
How far away,
Some sentinel
Of God's good will,
In forest cool,
Or desert gray,
By lonely pool,
Or barren hill,

Shall faintly hear,
With inward ear,
The chiming bell,
Of his old school,
Through darkness pealing;
And lowly kneeling,
Shall feel the spell
Of grateful tears
His eyelids fill;
And softly pray
To Him who hears:
God bless old Lawrenceville!

WHO FOLLOW THE FLAG

PHI BETA KAPPA ODE HARVARD UNIVERSITY JUNE 30, 1910

Ι

ALL day long in the city's canyon-street,

With its populous cliffs alive on either side,
I saw a river of marching men like a tide
Flowing after the flag: and the rhythmic beat
Of the drums, and the bugles' resonant blare
Metred the tramp, tramp, tramp of a myriad feet,
While the red-white-and-blue was fluttering everywhere,
And the heart of the crowd kept time to a martial air:

O brave flag, O bright flag, O flag to lead the free!

The glory of thy silver stars,

Engrailed in blue above the bars

Of red for courage, white for truth,

Has brought the world a second youth

And drawn a hundred million hearts to follow after thee.

II

Old Cambridge saw thee first unfurled, By Washington's far-reaching hand, To greet, in Seventy-six, the wintry morn Of a new year, and herald to the world Glad tidings from a Western land,-A people and a hope new-born! The double cross then filled thine azure field, In token of a spirit loath to yield The breaking ties that bound thee to a throne. But not for long thine oriflamme could bear That symbol of an outworn trust in kings. The wind that bore thee out on widening wings Called for a greater sign and all thine own,— A new device to speak of heavenly laws And lights that surely guide the people's cause. Oh, greatly did they hope, and greatly dare, Who bade the stars in heaven fight for them, And set upon their battle-flag a fair New constellation as a diadem! Along the blood-stained banks of Brandywine The ragged regiments were rallied to this sign; Through Saratoga's woods it fluttered bright Amid the perils of the hard-won fight; O'er Yorktown's meadows broad and green

It hailed the glory of the final scene;
And when at length Manhattan saw
The last invaders' line of scarlet coats
Pass Bowling Green, and fill the waiting boats

And sullenly withdraw,
The flag that proudly flew
Above the battered line of buff and blue,
Marching, with rattling drums and shrilling pipes,
Along the Bowery and down Broadway,
Was this that leads the great parade to-day,—
The glorious banner of the stars and stripes.

First of the flags of earth to dare
A heraldry so high;
First of the flags of earth to bear
The blazons of the sky;
Long may thy constellation glow,
Foretelling happy fate;
Wider thy starry circle grow,
And every star a State!

III

Pass on, pass on, ye flashing files Of men who march in militant array; Ye thrilling bugles, throbbing drums, Ring out, roll on, and die away; And fade, ye crowds, with the fading day!

Around the city's lofty piles

Of steel and stone

The lilac veil of dusk is thrown,

Entangled full of sparks of fairy light;

And the never-silent heart of the city hums

To a homeward-turning tune before the night.

But far above, on the sky-line's broken height,

From all the towers and domes outlined

In gray and gold along the city's crest,

I see the rippling flag still take the wind

With a promise of good to come for all mankind.

IV

O banner of the west,
No proud and brief parade,
That glorifies a nation's holiday
With show of troops for warfare dressed,
Can rightly measure or display
The mighty army thou hast made
Loyal to guard thy more than royal sway.
Millions have come across the sea
To find beneath thy shelter room to grow;
Millions were born beneath thy folds and know.
No other flag but thee;

And other, darker millions bore the yoke Of bondage in thy borders till the voice Of Lincoln spoke,

And sent thee forth to set the bondmen free.

Rejoice, dear flag, rejoice!

Since thou hast proved and passed that bitter strife,

Richer thy red with blood of heroes wet,

Purer thy white through sacrificial life,

Brighter thy blue wherein new stars are set.

Thou art become a sign,

Revealed in heaven to speak of things divine:

Of Truth that dares

To slay the lie it sheltered unawares;

Of Courage fearless in the fight,

Yet ever quick its foemen to forgive;

Of Conscience earnest to maintain its right

And gladly grant the same to all who live.

Thy staff is deeply planted in the fact That nothing can ennoble man

Save his own act,

And naught can make him worthy to be free

But practice in the school of liberty.

The cords are two that lift thee to the sky:

Firm faith in God, the King who rules on high;

And never-failing trust

In human nature, full of faults and flaws,

Yet ever answering to the inward call
That bids it set the "ought" above the "must,"
In all its errors wiser than it seems,
In all its failures full of generous dreams,
Through endless conflict rising without pause
To self-dominion, charactered in laws
That pledge fair-play alike to great and small,
And equal rights for each beneath the rule of all.

These are thy halyards, banner bold,
And while these hold,
Thy brightness from the sky shall never fall,
Thy broadening empire never know decrease,—
Thy strength is union and thy glory peace.

v

Look forth across thy widespread lands,
O flag, and let thy stars to-night be eyes
To see the visionary hosts
Of men and women grateful to be thine,
That joyfully arise
From all thy borders and thy coasts,
And follow after thee in endless line!
They lift to thee a forest of saluting hands;
They hail thee with a rolling ocean-roar
Of cheers; and as the echo dies,

There comes a sweet and moving song Of treble voices from the childish throng Who run to thee from every school-house door. Behold thine army! Here thy power lies: The men whom freedom has made strong, And bound to follow thee by willing vows; The women greatened by the joys Of motherhood to rule a happy house; The vigorous girls and boys, Whose eager faces and unclouded brows Foretell the future of a noble race. Rich in the wealth of wisdom and true worth! While millions such as these to thee belong, What foe can do thee wrong, What jealous rival rob thee of thy place Foremost of all the flags of earth?

VI

My vision darkens as the night descends;
And through the mystic atmosphere
I feel the creeping coldness that portends
A change of spirit in my dream
The multitude that moved with song and cheer
Have vanished, yet a living stream
Flows on and follows still the flag,

But silent now, with leaden feet that lag
And falter in the deepening gloom,—
A weird battalion bringing up the rear.
Ah, who are these on whom the vital bloom
Of life has withered to the dust of doom?
These little pilgrims prematurely worn
And bent as if they bore the weight of years?
These childish faces, pallid and forlorn,
Too dull for laughter and too hard for tears?
Is this the ghost of that insane crusade
That led ten thousand children long ago,
A flock of innocents, deceived, betrayed,
Yet pressing on through want and woe
To meet their fate, faithful and unafraid?

Nay, for a million children now Are marching in the long pathetic line, With weary step and early wrinkled brow; And at their head appears no holy sign

Of hope in heaven;

For unto them is given

No cross to carry, but a cross to drag.

Before their strength is ripe they bear

The load of labour, toiling underground

In dangerous mines and breathing heavy air

Of crowded shops; their tender lives are bound

To service of the whirling, clattering wheels

That fill the factories with dust and noise;

They are not girls and boys,
But little "hands" who blindly, dumbly feed
With their own blood the hungry god of Greed.

Robbed of their natural joys,
And wounded with a scar that never heals,
They stumble on with heavy-laden soul,
And fall by thousands on the highway lined
With little graves, or reach at last their goal
Of stunted manhood and embittered age,
To brood awhile with dark and troubled mind,
Beside the smouldering fire of sullen rage,
On life's unfruitful work and niggard wage.
Are these the regiments that Freedom rears

To serve her cause in coming years?

Nay, every life that Avarice doth maim

And beggar in the helpless days of youth,

Shall surely claim

A just revenge, and take it without ruth;
And every soul denied the right to grow
Beneath the flag, shall be its secret foe.
Bow down, dear land, in penitence and shame!
Remember now thine oath, so nobly sworn,

To guard an equal lot

For every child within thy borders born!

These are thy children whom thou hast forgot:

They have the bitter right to live, but not The blessed right to look for happiness. O lift thy liberating hand once more, To loose thy little ones from dark duress; The vital gladness to their hearts restore In healthful lessons and in happy play; And set them free to climb the upward way That leads to self-reliant nobleness. Speak out, my country, speak at last,

As thou hast spoken in the past, And clearly, bravely say:

"I will defend

VII

Look up, look up, ye downcast eyes!

The night is almost gone:

Along the new horizon flies

The banner of the dawn;

The eastern sky is banded low

With white and crimson bars,

While far above the morning glow

The everlasting stars.

[&]quot;The coming race on whom my hopes depend:

[&]quot;Beneath my flag and on my sacred soil

[&]quot;No child shall bear the crushing yoke of toil."

O bright flag, O brave flag, O flag to lead the free!

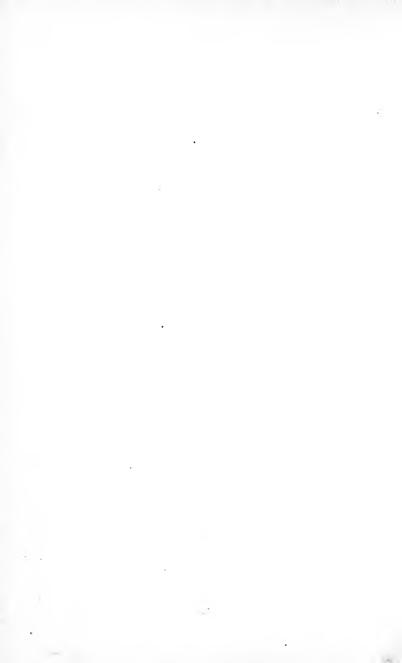
The hand of God thy colours blent,

And heaven to earth thy glory lent,

To shield the weak, and guide the strong

To make an end of human wrong,

And draw a countless human host to follow after thee!







MOTHER EARTH

MOTHER of all the high-strung poets and singers departed, Mother of all the grass that weaves over their graves the glory of the field,

Mother of all the manifold forms of life, deep-bosomed, patient, impassive,

Silent brooder and nurse of lyrical joys and sorrows!

Out of thee, yea, surely out of the fertile depth below thy breast,

Issued in some strange way, thou lying motionless, voiceless, All these songs of nature, rhythmical, passionate, yearning, Coming in music from earth, but not unto earth returning.

Dust are the blood-red hearts that beat in time to these measures,

Thou hast taken them back to thyself, secretly, irresistibly
Drawing the crimson currents of life down, down, down
Deep into thy bosom again, as a river is lost in the sand.
But the souls of the singers have entered into the songs that

But the souls of the singers have entered into the songs that revealed them,—

Passionate songs, immortal songs of joy and grief and love and longing,

Floating from heart to heart of thy children, they echo above thee:

Do they not utter thy heart, the voices of those that love thee?

Long hadst thou lain like a queen transformed by some old enchantment

Into an alien shape, mysterious, beautiful, speechless,
Knowing not who thou wert, till the touch of thy Lord and
Lover

Wakened the man-child within thee to tell thy secret.

All of thy flowers and birds and forests and flowing waters

Are but the rhythmical forms to reveal the life of the spirit;

Thou thyself, earth-mother, in mountain and meadow and ocean,

Holdest the poem of God, eternal thought and emotion. *December*, 1905.

MILTON

Ι

LOVER of beauty, walking on the height
Of pure philosophy and tranquil song;
Born to behold the visions that belong
To those who dwell in melody and light;
Milton, thou spirit delicate and bright!
What drew thee down to join the Roundhead throng

Of iron-sided warriors, rude and strong, Fighting for freedom in a world half night?

Lover of Liberty at heart wast thou,

Above all beauty bright, all music clear:

To thee she bared her bosom and her brow,

Breathing her virgin promise in thine ear,

And bound thee to her with a double vow,—

Exquisite Puritan, grave Cavalier!

II

The cause, the cause for which thy soul resigned
Her singing robes to battle on the plain,
Was won, O poet, and was lost again;
And lost the labour of thy lonely mind
On weary tasks of prose. What wilt thou find
To comfort thee for all the toil and pain?
What solace, now thy sacrifice is vain
And thou art left forsaken, poor, and blind?

Like organ-music comes the deep reply:

"The cause of truth looks lost, but shall be won.

For God hath given to mine inward eye

Vision of England soaring to the sun.

And granted me great peace before I die,

In thoughts of lowly duty bravely done."

III

O bend again above thine organ-board,

Thou blind old poet longing for repose!

Thy Master claims thy service not with those
Who only stand and wait for His reward;

He pours the heavenly gift of song restored

Into thy breast, and bids thee nobly close

A noble life, with poetry that flows In mighty music of the major chord.

Where hast thou learned this deep, majestic strain,
Surpassing all thy youthful lyric grace,
To sing of Paradise? Ah, not in vain
The griefs that won at Dante's side thy place,
And made thee, Milton, by thy years of pain,
The loftiest poet of the Saxon race!
1908.

WORDSWORTH

Wordsworth, thy music like a river rolls

Among the mountains, and thy song is fed
By living springs far up the watershed;
No whirling flood nor parching drought controls
The crystal current: even on the shoals
It murmurs clear and sweet; and when its bed
Deepens below mysterious cliffs of dread,
Thy voice of peace grows deeper in our souls.

But thou in youth hast known the breaking stress
Of passion, and hast trod despair's dry ground
Beneath black thoughts that wither and destroy.
Ah, wanderer, led by human tenderness
Home to the heart of Nature, thou hast found
The hidden Fountain of Recovered Joy.

October, 1906.

KEATS 211

KEATS

The melancholy gift Aurora gained
From Jove, that her sad lover should not see
The face of death, no goddess asked for thee,
My Keats! But when the scarlet blood-drop stained
Thy pillow, thou didst read the fate ordained,—
Brief life, wild love, a flight of poesy!
And then,—a shadow fell on Italy:
Thy star went down before its brightness waned.

Yet thou hast won the gift Tithonus missed:

Never to feel the pain of growing old,

Nor lose the blissful sight of beauty's truth,

But with the ardent lips Urania kissed

To breathe thy song, and, ere thy heart grew cold,

Become the Poet of Immortal Youth.

August, 1906.

SHELLEY

KNIGHT-ERRANT of the Never-ending Quest,
And Minstrel of the Unfulfilled Desire;
For ever tuning thy frail earthly lyre
To some unearthly music, and possessed
With painful passionate longing to invest
The golden dream of Love's immortal fire
With mortal robes of beautiful attire,
And fold perfection to thy throbbing breast!

What wonder, Shelley, that the restless wave
Should claim thee and the leaping flame consume
Thy drifted form on Viareggio's beach?
These were thine elements,—thy fitting grave.
But still thy soul rides on with fiery plume,
Thy wild song rings in ocean's yearning speech!

August, 1906.

ROBERT BROWNING

How blind the toil that burrows like the mole,
In winding graveyard pathways underground,
For Browning's lineage! What if men have found
Poor footmen or rich merchants on the roll
Of his forbears? Did they beget his soul?
Nay, for he came of ancestry renowned
Through all the world,—the poets laurel-crowned
With wreaths from which the autumn takes no toll.

The blazons on his coat-of-arms are these:

The flaming sign of Shelley's heart on fire,

The golden globe of Shakespeare's human stage,

The staff and scrip of Chaucer's pilgrimage,

The rose of Dante's deep, divine desire,

The tragic mask of wise Euripides.

November, 1906.

TENNYSON

IN LUCEM TRANSITUS, OCTOBER, 1892

From the misty shores of midnight, touched with splendours of the moon,

To the singing tides of heaven, and the light more clear than noon,

Passed a soul that grew to music till it was with God in tune.

Brother of the greatest poets, true to nature, true to art;
Lover of Immortal Love, uplifter of the human heart;
Who shall cheer us with high music, who shall sing, if thou depart?

Silence here—for love is silent, gazing on the lessening sail; Silence here—for grief is voiceless when the mighty minstrels fail;

Silence here-but far beyond us, many voices crying, Hail!

"IN MEMORIAM"

THE record of a faith sublime,
And hope, through clouds, far-off discerned;
The incense of a love that burned
Through pain and doubt defying Time:

The story of a soul at strife

That learned at last to kiss the rod,

And passed through sorrow up to God,

From living to a higher life:

A light that gleams across the wave
Of darkness, down the rolling years,
Piercing the heavy mist of tears—
A rainbow shining o'er a grave.

VICTOR HUGO

1802-1902

HEART of France for a hundred years, Passionate, sensitive, proud, and strong, Quick to throb with her hopes and fears, Fierce to flame with her sense of wrong! You, who hailed with a morning song Dream-light gilding a throne of old: You, who turned when the dream grew cold, Singing still, to the light that shone Pure from Liberty's ancient throne, Over the human throng! You, who dared in the dark eclipse,-When the pygmy heir of a giant name Dimmed the face of the land with shame,— Speak the truth with indignant lips. Call him little whom men called great, Scoff at him, scorn him, deny him, Point to the blood on his robe of state. Fling back his bribes and defy him!

You, who fronted the waves of fate
As you faced the sea from your island home,

Exiled, yet with a soul elate,
Sending songs o'er the rolling foam,
Bidding the heart of man to wait
For the day when all should see
Floods of wrath from the frowning skies
Fall on an Empire founded in lies,
And France again be free!
You, who came in the Terrible Year
Swiftly back to your broken land,
Now to your heart a thousand times more dear,—
Prayed for her, sung to her, fought for her,
Patiently, fervently wrought for her,
Till once again,
After the storm of fear and pain,
High in the heavens the star of France stood clear!

You, who knew that a man must take Good and ill with a steadfast soul—
Holding fast, while the billows roll
Over his head, to the things that make Life worth living for great and small,—
Honour and pity and truth,
The heart and the hope of youth,
And the good God over all!
You, to whom work was rest,
Dauntless Toiler of the Sea.

Following ever the joyful quest Of beauty on the shores of old Romance, Bard of the poor of France, And warrior-priest of world-wide charity! You who loved little children best Of all the poets that ever sung, Great heart, golden heart, Old, and yet ever young, Minstrel of liberty, Lover of all free, winged things, Now at last you are free,-Your soul has its wings! Heart of France for a hundred years, Floating far in the light that never fails you, Over the turmoil of mortal hopes and fears Victor, forever victor, the whole world hails you! March, 1902.

LONGFELLOW

- In a great land, a new land, a land full of labour and riches and confusion,
- Where there were many running to and fro, and shouting, and striving together,
- In the midst of the hurry and the troubled noise, I heard the voice of one singing.
- "What are you doing there, O man, singing quietly amid all this tumult?
- This is the time for new inventions, mighty shoutings, and blowings of the trumpet."
- But he answered, "I am only shepherding my sheep with music."
- So he went along his chosen way, keeping his little flock around him;
- And he paused to listen, now and then, beside the antique fountains,
- Where the faces of forgotten gods were refreshed with musically falling waters;

- Or he sat for a while at the blacksmith's door, and heard the cling-clang of the anvils;
- Or he rested beneath old steeples full of bells, that showered their chimes upon him;
- Or he walked along the border of the sea, drinking in the long roar of the billows;
- Or he sunned himself in the pine-scented shipyard, amid the tattoo of the mallets;
- Or he leaned on the rail of the bridge, letting his thoughts flow with the whispering river;
- He hearkened also to ancient tales, and made them young again with his singing.
- Then a flaming arrow of death fell on his flock, and pierced the heart of his dearest!
- Silent the music now, as the shepherd entered the mystical temple of sorrow:
- Long he tarried in darkness there: but when he came out he was singing.
- And I saw the faces of men and women and children silently turning toward him;
- The youth setting out on the journey of life, and the old man waiting beside the last mile-stone;
- The toiler sweating beneath his load; and the happy mother rocking her cradle;

- The lonely sailor on far-off seas; and the grey-minded scholar in his book-room;
- The mill-hand bound to a clacking machine; and the hunter in the forest;
- And the solitary soul hiding friendless in the wilderness of the city;
- Many human faces, full of care and longing, were drawn irresistibly toward him,
- By the charm of something known to every heart, yet very strange and lovely,
- And at the sound of his singing wonderfully all their faces were lightened.
- "Why do you listen, O you people, to this old and world-worn music?
- This is not for you, in the splendour of a new age, in the democratic triumph!
- Listen to the clashing cymbals, the big drums, the brazen trumpets of your poets."
- But the people made no answer, following in their hearts the simpler music:
- For it seemed to them, noise-weary, nothing could be better worth the hearing
- Than the melodies which brought sweet order into life's confusion.

- So the shepherd sang his way along, until he came into a mountain:
- And I know not surely whether the mountain was called Parnassus,
- But he climbed it out of sight, and still I heard the voice of one singing.

January, 1907.

THOMAS BAILEY ALDRICH

Ι

BIRTHDAY VERSES, 1906

DEAR Aldrich, now November's mellow days
Have brought another Festa round to you,
You can't refuse a loving-cup of praise
From friends the fleeting years have bound to you.

Here come your Marjorie Daw, your dear Bad Boy, Prudence, and Judith the Bethulian, And many more, to wish you birthday joy, And sunny hours, and sky cerulean!

Your children all, they hurry to your den,
With wreaths of honour they have won for you,
To merry-make your threescore years and ten.
You, old? Why, life has just begun for you!

There's many a reader whom your silver songs
And crystal stories cheer in loneliness.

What though the newer writers come in throngs?

You're sure to keep your charm of only-ness.

You do your work with careful, loving touch,—
An artist to the very core of you,—
You know the magic spell of "not-too-much":
We read,—and wish that there was more of you.

And more there is: for while we love your books
Because their subtle skill is part of you;
We love you better, for our friendship looks
Behind them to the human heart of you.

п

MEMORIAL SONNET, 1908

This is the house where little Aldrich read
The early pages of Life's wonder-book
With boyish pleasure: in this ingle-nook
He watched the drift-wood fire of Fancy shed
Bright colour on the pictures blue and red:
Boy-like he skipped the longer words, and took
His happy way, with searching, dreamful look
Among the deeper things more simply said.

Then, came his turn to write: and still the flame
Of Fancy played through all the tales he told,
And still he won the laurelled poet's fame
With simple words wrought into rhymes of gold.
Look, here's the face to which this house is frame,—
A man too wise to let his heart grow old!

EDMUND CLARENCE STEDMAN

(READ AT HIS FUNERAL, JANUARY 21, 1908.)

OH, quick to feel the lightest touch
Of beauty or of truth,
Rich in the thoughtfulness of age,
The hopefulness of youth,
The courage of the gentle heart,
The wisdom of the pure,
The strength of finely tempered souls
To labour and endure!

The blue of springtime in your eyes
Was never quenched by pain;
And winter brought your head the crown
Of snow without a stain.
The poet's mind, the prince's heart,
You kept until the end,
Nor ever faltered in your work,
Nor ever failed a friend.

You followed, through the quest of life,
The light that shines above
The tumult and the toil of men,
And shows us what to love.

Right loyal to the best you knew,
Reality or dream,
You ran the race, you fought the fight,
A follower of the Gleam.

We lay upon your folded hands
The wreath of asphodel;
We speak above your peaceful face
The tender word Farewell!
For well you fare, in God's good care,
Somewhere within the blue,
And know, to-day, your dearest dreams
Are true,—and true,—and true!

TO JAMES WHITCOMB RILEY

On His "Book of Joyous Children"

Yours is a garden of old-fashioned flowers; Joyous children delight to play there; Weary men find rest in its bowers, Watching the lingering light of day there.

Old-time tunes and young love-laughter Ripple and run among the roses; Memory's echoes, murmuring after, Fill the dusk when the long day closes.

Simple songs with a cadence olden—
These you learned in the Forest of Arden:
Friendly flowers with hearts all golden—
These you borrowed from Eden's garden.

This is the reason why all men love you;
Truth to life is the finest art:
Other poets may soar above you—
You keep close to the human heart.
December, 1903.

RICHARD WATSON GILDER

IN MEMORIAM

Soul of a soldier in a poet's frame,

Heart of a hero in a body frail;

Thine was the courage clear that did not quail

Before the giant champions of shame

Who wrought dishonour to the city's name;

And thine the vision of the Holy Grail

Of Love, revealed through Music's lucid veil,

Filling thy life with heavenly song and flame.

Pure was the light that lit thy glowing eye,
And strong the faith that held thy simple creed.
Ah, poet, patriot, friend, to serve our need
Thou leavest two great gifts that will not die:
Above the city's noise, thy lyric cry,—
Amid the city's strife, thy noble deed!

November, 1909.





MUSIC

1

PRELUDE

I

DAUGHTER of Psyche, pledge of that wild night When, pierced with pain and bitter-sweet delight, She knew her Love and saw her Lord depart, Then breathed her wonder and her woe forlorn Into a single cry, and thou wast born! Thou flower of rapture and thou fruit of grief; Invisible enchantress of the heart;

Mistress of charms that bring relief
To sorrow, and to joy impart
A heavenly tone that keeps it undefiled,—

Thou art the child

Of Amor, and by right divine A throne of love is thine,

Thou flower-folded, golden-girdled, star-crowned Queen, Whose bridal beauty mortal eyes have never seen!

2

Thou art the Angel of the pool that sleeps, While peace and joy lie hidden in its deeps, Waiting thy touch to make the waters roll In healing murmurs round the weary soul.

Ah, when wilt thou draw near,

Thou messenger of mercy robed in song?

My lonely heart has listened for thee long;

And now I seem to hear

Across the crowded market-place of life,

Thy measured foot-fall, ringing light and clear

Above unmeaning noises and unruly strife.

In quiet cadence, sweet and slow,

Serenely pacing to and fro,

Serenely pacing to and fro,

Thy far-off steps are magical and dear,—

Ah, turn this way, come close and speak to me!

From this dull bed of languor set my spirit free,

And bid me rise, and let me walk awhile with thee.

Π

INVOCATION

Where wilt thou lead me first?

In what still region

Of thy domain,

Whose provinces are legion,

Wilt thou restore me to myself again,

And quench my heart's long thirst?

I pray thee lay thy golden girdle down,

And put away thy starry crown:

For one dear restful hour
Assume a state more mild.

Clad only in thy blossom-broidered gown

That breathes familiar scent of many a flower,

Take the low path that leads through pastures green;

And though thou art a Oueen,

And though thou art a Queen, Be Rosamund awhile, and in thy bower, By tranquil love and simple joy beguiled, Sing to my soul, as mother to her child.

III

PLAY SONG

O lead me by the hand,
And let my heart have rest,
And bring me back to childhood land,
To find again the long-lost band
Of playmates blithe and blest.

Some quaint, old-fashioned air,
That all the children knew,
Shall run before us everywhere,
Like a little maid with flying hair,
To guide the merry crew.

Along the garden ways We chase the light-foot tune, And in and out the flowery maze, With eager haste and fond delays, In pleasant paths of June.

For us the fields are new,
For us the woods are rife
With fairy secrets, deep and true,
And heaven is but a tent of blue
Above the game of life.

The world is far away:
The fever and the fret,
And all that makes the heart grow grey,
Is out of sight and far away,
Dear Music, while I hear thee play
That olden, golden roundelay,
"Remember and forget!"

IV

SLEEP SONG

Forget, forget!
The tide of life is turning;
The waves of light ebb slowly down the west:
Along the edge of dark some stars are burning
To guide thy spirit safely to an isle of rest.
A little rocking on the tranquil deep

Of song, to soothe thy yearning, A little slumber and a little sleep, And so, forget, forget!

Forget, forget,—
The day was long in pleasure;
Its echoes die away across the hill;
Now let thy heart beat time to their slow measure,
That swells, and sinks, and faints, and falls, till all is still.
Then, like a weary child that loves to keep
Locked in its arms some treasure,
Thy soul in calm content shall fall asleep,
And so forget, forget.

Forget, forget,—
And if thou hast been weeping,
Let go the thoughts that bind thee to thy grief:
Lie still, and watch the singing angels, reaping
The golden harvest of thy sorrow, sheaf by sheaf;
Or count thy joys like flocks of snow-white sheep
That one by one come creeping
Into the quiet fold, until thou sleep,
And so forget, forget!

Forget, forget,—
Thou art a child and knowest
So little of thy life! But music tells

236

The secret of the world through which thou goest
To work with morning song, to rest with evening bells:

Life is in tune with harmony so deep

That when the notes are lowest

That when the notes are lowest

Thou still canst lay thee down in peace and sleep,

For God will not forget.

V

HUNTING SONG

Out of the garden of playtime, out of the bower of rest, Fain would I follow at daytime, music that calls to a quest.

Hark, how the galloping measure Quickens the pulses of pleasure; Gaily saluting the morn

With the long, clear note of the hunting-horn, Echoing up from the valley,

Over the mountain side,—

Rally, you hunters, rally,

Rally, and ride!

Drink of the magical potion music has mixed with her wine, Full of the madness of motion, joyful, exultant, divine!

Leave all your troubles behind you, Ride where they never can find you, Into the gladness of morn,

With the long, clear note of the hunting-horn,

Swiftly o'er hillock and hollow, Sweeping along with the wind,— Follow, you hunters, follow, Follow and find!

What will you reach with your riding? What is the charm of the chase?

Just the delight and the striding swing of the jubilant pace.

Danger is sweet when you front her,—
In at the death, every hunter!

Now on the breeze the mort is borne

In the long, clear note of the hunting-horn,

Winding merrily, over and over,—

Come, come, come!

Home again, Ranger! home again, Rover!
Turn again, home!

VI

DANCE-MUSIC

т

Now let the sleep-tune blend with the play-tune, Weaving the mystical spell of the dance; Lighten the deep tune, soften the gay tune, Mingle a tempo that turns in a trance. Half of it sighing, half of it smiling, Smoothly it swings, with a triplicate beat; Calling, replying, yearning, beguiling, Wooing the heart and bewitching the feet.

Every drop of blood Rises with the flood,

Rocking on the waves of the strain;

Youth and beauty glide Turning with the tide—

Music making one out of twain,

Bearing them away, and away, and away,

Like a tone and its terce-

Till the chord dissolves, and the dancers stay, And reverse.

Violins leading, take up the measure, Turn with the tune again,—clarinets clear Answer their pleading,—harps full of pleasure Sprinkle their silver like light on the mere.

Semiquaver notes,
Merry little motes,
Tangled in the haze
Of the lamp's golden rays,
Quiver everywhere
In the air,
Like a spray,—

Till the fuller stream of the might of the tune,

Gliding like a dream in the light of the moon, Bears them all away, and away, and away, Floating in the trance of the dance.

2

Then begins a measure stately, Languid, slow, serene; All the dancers move sedately, Stepping leisurely and straitly, With a courtly mien; Crossing hands and changing places, Bowing low between, While the minuet inlaces Waving arms and woven paces,— Glittering damaskeen. Where is she whose form is folden In its royal sheen? From our longing eyes withholden By her mystic girdle golden, Beauty sought but never seen, Music walks the maze, a queen.

VII

THE SYMPHONY

Music, they do thee wrong who say thine art
Is only to enchant the sense.
For every timid motion of the heart,

And every passion too intense . To bear the chain of the imperfect word, And every tremulous longing, stirred By spirit winds that come we know not whence And go we know not where, And every inarticulate prayer Beating about the depths of pain or bliss, Like some bewildered bird That seeks its nest but knows not where it is. And every dream that haunts, with dim delight, The drowsy hour between the day and night. The wakeful hour between the night and day,-Imprisoned, waits for thee, Impatient, yearns for thee, The queen who comes to set the captive free! Thou lendest wings to grief to fly away,

The queen who comes to set the captive free!
Thou lendest wings to grief to fly away,
And wings to joy to reach a heavenly height;
And every dumb desire that storms within the breast
Thou leadest forth to sob or sing itself to rest.

All these are thine, and therefore love is thine.

For love is joy and grief,

And trembling doubt, and certain-sure belief,

And fear, and hope, and longing unexpressed,

In pain most human, and in rapture brief

Almost divine.

Love would possess, yet deepens when denied;

And love would give, yet hungers to receive; Love like a prince his triumph would achieve; And like a miser in the dark his joys would hide.

Love is most bold,

He leads his dreams like armèd men in line; Yet when the siege is set, and he must speak, Calling the fortress to resign Its treasure, valiant love grows weak,

And hardly dares his purpose to unfold.

Less with his faltering lips than with his eyes
He claims the longed-for prize:

Love fain would tell it all, yet leaves the best untold. But thou shalt speak for love. Yea, thou shalt teach

> The mystery of measured tone, The Pentecostal speech

That every listener heareth as his own.

For on thy head the cloven tongues of fire.—

Diminished chords that quiver with desire,

And major chords that glow with perfect peace,—

Have fallen from above;

And thou canst give release

In music to the burdened heart of love.

Sound with the 'cellos' pleading, passionate strain The yearning theme, and let the flute reply In placid melody, while violins complain, And sob, and sigh,
With muted string;
Then let the oboe half-reluctant sing
Of bliss that trembles on the verge of pain,
While 'cellos plead and plead again,
With throbbing notes delayed, that would impart
To every urgent tone the beating of the heart.

So runs the andante, making plain
The hopes and fears of love without a word.
Then comes the adagio, with a yielding theme
Through which the violas flow soft as in a dream,

While horns and mild bassoons are heard In tender tune, that seems to float

Like an enchanted boat
Upon the downward-gliding stream,
Toward the allegro's wide, bright sea
Of dancing, glittering, blending tone,

Where every instrument is sounding free,
And harps like wedding-chimes are rung, and trumpets blown

Around the barque of love
That rides, with smiling skies above,
A royal galley, many-oared,
Into the happy harbour of the perfect chord.

VIII

IRIS

Light to the eye and Music to the ear.— These are the builders of the bridge that springs From earth's dim shore of half-remembered things To reach the heavenly sphere Where nothing silent is and nothing dark. So when I see the rainbow's arc Spanning the showery sky, far-off I hear Music, and every colour sings: And while the symphony builds up its round Full sweep of architectural harmony Above the tide of Time, far, far away I see A bow of colour in the bow of sound. Red as the dawn the trumpet rings; Blue as the sky, the choir of strings Darkens in double-bass to ocean's hue. Rises in violins to noon-tide's blue, With threads of quivering light shot through and through; Green as the mantle that the summer flings Around the world, the pastoral reeds in tune Embroider melodies of May and June.

Purer than gold,
Yea, thrice-refined gold,
And richer than the treasures of the mine,

Along the arch in choral song are rolled.

So bends the bow complete:

And radiant rapture flows

Across the bridge, so full, so strong, so sweet,

That the uplifted spirit hardly knows

Whether the Music-Light that glows

Within the arch of tones and colours seven

Is sunset-peace of earth, or sunrise-joy of Heaven.

IX

SEA AND SHORE

Music, I yield to thee
As swimmer to the sea,
I give my spirit to the flood of song!
Bear me upon thy breast
In rapture and at rest,
Bathe me in pure delight and make me strong;
From strife and struggle bring release,
And draw the waves of passion into tides of peace.

Remembered songs most dear
In living songs I hear,
While blending voices gently swing and sway,
In melodies of love.

Whose mighty currents move
With singing near and singing far away;
Sweet in the glow of morning light,
And sweeter still across the starlit gulf of night.

Music, in thee we float,
And lose the lonely note

Of self in thy celestial-ordered strain,
Until at last we find
The life to love resigned

In harmony of joy restored again;
And songs that cheered our mortal days

Break on the shore of light in endless hymns of
praise.

December, 1901—May, 1903.

MASTER OF MUSIC

(In Memory of Theodore Thomas, 1905)

- GLORY of architect, glory of painter, and sculptor, and bard,
 Living forever in temple and picture and statue and song,—
 Look how the world with the lights that they lit is illumined
 and starred;
 - Brief was the flame of their life, but the lamps of their art burn long!
- Where is the Master of Music, and how has he vanished away?
 Where is the work that he wrought with his wonderful art in the air?
- Gone,—it is gone like the glow on the cloud at the close of the day!
 - The Master has finished his work and the glory of music is—where?
- Once, at the wave of his wand, all the billows of musical sound Followed his will, as the sea was ruled by the prophet of old:
- Now that his hand is relaxed, and his rod has dropped to the ground,
 - Silent and dark are the shores where the marvellous harmonies rolled!

Nay, but not silent the hearts that were filled by that life-giving sea;

Deeper and purer forever the tides of their being will roll, Grateful and joyful, O Master, because they have listened to thee,—

The glory of music endures in the depths of the human soul.

TO A YOUNG GIRL SINGING

OH, what do you know of the song, my dear,
And how have you made it your own?

You have caught the turn of the melody clear,
And you give it again with a golden tone,
Till the wonder-word and the wedded note
Are flowing out of your beautiful throat
With a liquid charm for every ear:
And they talk of your art,—but for you alone
The song is a thing, unheard, unknown;
You only have learned it by rote.

But when you have lived for awhile, my dear,
I think you will learn it anew!

For a joy will come, or a grief, or a fear,
That will alter the look of the world for you;
And the lyric you learned as a bit of art,
Will wake to life as a wonderful part
Of the love you feel so deep and true;
And the thrill of a laugh or the throb of a tear,
Will come with your song to all who hear;
For then you will know it by heart.

A pril, 1911.

THE PIPES O' PAN

Great Nature had a million words, In tongues of trees and songs of birds, But none to breathe the heart of man, Till Music filled the pipes o' Pan. 250 MUSIC

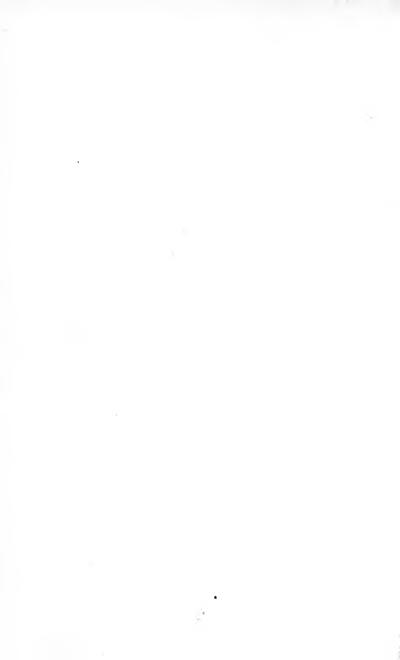
THE OLD FLUTE

The time will come when I no more can play
This polished flute: the stops will not obey
My gnarled fingers; and the air it weaves
In modulations, like a vine with leaves
Climbing around the tower of song, will die
In rustling autumn rhythms, confused and dry.
My shortened breath no more will freely fill
This magic reed with melody at will;
My stiffened lips will try and try in vain
To wake the liquid, leaping, dancing strain;
The heavy notes will falter, wheeze, and faint
Or mock my ear with shrillness of complaint.

Then let me hang this faithful friend of mine Upon the trunk of some old, sacred pine, And sit beneath the green protecting boughs To hear the viewless wind, that sings and soughs Above me, play its wild, aerial lute, And draw a ghost of music from my flute!

So will I thank the gods; and most of all The Delian Apollo, whom men call

The mighty master of immortal sound,— Lord of the billows in their chanting round, Lord of the winds that fill the wood with sighs, Lord of the echoes and their sweet replies, Lord of the little people of the air That sprinkle drops of music everywhere, Lord of the sea of melody that laves The universe with never silent waves,— Him will I thank that this brief breath of mine Has caught one cadence of the song divine; And these frail fingers learned to rise and fall In time with that great tune which throbs thro' all; And these poor lips have lent a lilt of joy To songless men whom weary tasks employ! My life has had its music, and my heart In harmony has borne a little part, Before I come with quiet, grateful breast To Death's dim hall of silence and of rest. Freely rendered from the French of Auguste Angellier.



LYRICS OF LABOUR AND ROMANCE



A MILE WITH ME

O who will walk a mile with me
Along life's merry way?
A comrade blithe and full of glee,
Who dares to laugh out loud and free,
And let his frolic fancy play,
Like a happy child, through the flowers gay
That fill the field and fringe the way
Where he walks a mile with me.

And who will walk a mile with me
Along life's weary way?

A friend whose heart has eyes to see
The stars shine out o'er the darkening lea,
And the quiet rest at the end o' the day,—
A friend who knows, and dares to say,
The brave, sweet words that cheer the way
Where he walks a mile with me.

With such a comrade, such a friend,
I fain would walk till journeys end,
Through summer sunshine, winter rain,
And then?—Farewell, we shall meet again!

THE THREE BEST THINGS

Ι

WORK

Let me but do my work from day to day,
In field or forest, at the desk or loom,
In roaring market-place or tranquil room;
Let me but find it in my heart to say,
When vagrant wishes beckon me astray,
"This is my work; my blessing, not my doom;
"Of all who live, I am the one by whom
"This work can best be done in the right way."

Then shall I see it not too great, nor small,

To suit my spirit and to prove my powers;

Then shall I cheerful greet the labouring hours,

And cheerful turn, when the long shadows fall

At eventide, to play and love and rest,

Because I know for me my work is best.

 \mathbf{II}

LOVE

Let me but love my love without disguise,

Nor wear a mask of fashion old or new,

Nor wait to speak till I can hear a clue,

Nor play a part to shine in others' eyes,

Nor bow my knees to what my heart denies;

But what I am, to that let me be true,

And let me worship where my love is due,

And so through love and worship let me rise.

For love is but the heart's immortal thirst

To be completely known and all forgiven,
Even as sinful souls that enter Heaven:
So take me, dear, and understand my worst,
And freely pardon it, because confessed,
And let me find in loving thee, my best.

Ш

LIFE

Let me but live my life from year to year,
With forward face and unreluctant soul;
Not hurrying to, nor turning from, the goal;
Not mourning for the things that disappear
In the dim past, nor holding back in fear
From what the future veils; but with a whole
And happy heart, that pays its toll
To Youth and Age, and travels on with cheer.

So let the way wind up the hill or down,
O'er rough or smooth, the journey will be joy:
Still seeking what I sought when but a boy,
New friendship, high adventure, and a crown,
My heart will keep the courage of the quest,
And hope the road's last turn will be the best.

RELIANCE

Not to the swift, the race:
Not to the strong, the fight:
Not to the righteous, perfect grace:
Not to the wise, the light.

But often faltering feet
Come surest to the goal;
And they who walk in darkness meet
The sunrise of the soul.

A thousand times by night
The Syrian hosts have died;
A thousand times the vanquished right
Hath risen, glorified.

The truth the wise men sought
Was spoken by a child;
The alabaster box was brought
In trembling hands defiled.

Not from my torch, the gleam,
But from the stars above:
Not from my heart, life's crystal stream,
But from the depths of Love.

DOORS OF DARING

THE mountains that inclose the vale
With walls of granite, steep and high,
Invite the fearless foot to scale
Their stairway toward the sky.

The restless, deep, dividing sea

That flows and foams from shore to shore,
Calls to its sunburned chivalry,
"Push out, set sail, explore!"

The bars of life at which we fret,

That seem to prison and control,

Are but the doors of daring, set

Ajar before the soul.

Say not, "Too poor," but freely give;
Sigh not, "Too weak," but boldly try;
You never can begin to live
Until you dare to die.

A HOME SONG

I READ within a poet's book
A word that starred the page:
"Stone walls do not a prison make,
Nor iron bars a cage!"

Yes, that is true, and something more:
You'll find, where'er you roam,
That marble floors and gilded walls
Can never make a home.

But every house where Love abides,
And Friendship is a guest,
Is surely home, and home-sweet-home:
For there the heart can rest.

THE CHILD IN THE GARDEN

When to the garden of untroubled thought
I came of late, and saw the open door,
And wished again to enter, and explore
The sweet, wild ways with stainless bloom inwrought,
And bowers of innocence with beauty fraught,
It seemed some purer voice must speak before
I dared to tread that garden loved of yore,
That Eden lost unknown and found unsought.

Then just within the gate I saw a child,—
A stranger-child, yet to my heart most dear;
He held his hands to me, and softly smiled
With eyes that knew no shade of sin or fear:
"Come in," he said, "and play awhile with me;
"I am the little child you used to be."

LOVE'S REASON



For that thy face is fair I love thee not;

Nor yet because thy brown benignant eyes
Have sudden gleams of gladness and surprise,
Like woodland brooks that cross a sunlit spot:
Nor for thy body, born without a blot,
And loveliest when it shines with no disguise
Pure as the star of Eve in Paradise,—
For all these outward things I love thee not:

But for a something in thy form and face,
Thy looks and ways, of primal harmony;
A certain soothing charm, a vital grace
That breathes of the eternal womanly,
And makes me feel the warmth of Nature's breast,
When in her arms, and thine, I sink to rest.

PORTRAIT AND REALITY

If on the closed curtain of my sight

My fancy paints thy portrait far away,

I see thee still the same, by night or day;

Crossing the crowded street, or moving bright

'Mid festal throngs, or reading by the light

Of shaded lamp some friendly poet's lay,

Or shepherding the children at their play,—

The same sweet self, and my unchanged delight.

But when I see thee near, I recognize
In every dear familiar way some strange
Perfection, and behold in April guise
The magic of thy beauty that doth range
Through many moods with infinite surprise,—
Never the same, and sweeter with each change.

THE ECHO IN THE HEART

It's little I can tell
About the birds in books;
And yet I know them well,
By their music and their looks:
When May comes down the lane,
Her airy lovers throng
To welcome her with song,
And follow in her train:
Each minstrel weaves his part
In that wild-flowery strain,
And I know them all again
By their echo in my heart.

It's little that I care
About my darling's place
In books of beauty rare,
Or heraldries of race:
For when she steps in view,
It matters not to me
What her sweet type may be,
Of woman, old or new.

I can't explain the art, But I know her for my own, Because her lightest tone Wakes an echo in my heart.

"UNDINE"

'Twas far away and long ago, When I was but a dreaming boy, This fairy tale of love and woe Entranced my heart with tearful joy; And while with white Undine I wept Your spirit,—ah, how strange it seems,— Was cradled in some star, and slept, Unconscious of her coming dreams.

"RENCONTRE"

OH, was I born too soon, my dear, or were you born too late, That I am going out the door while you come in the gate? For you the garden blooms galore, the castle is *en fête*; You are the coming guest, my dear,—for me the horses wait.

I know the mansion well, my dear, its rooms so rich and wide; If you had only come before I might have been your guide, And hand in hand with you explore the treasures that they hide; But you have come to stay, my dear, and I prepare to ride.

Then walk with me an hour, my dear, and pluck the reddest rose

Amid the white and crimson store with which your garden glows,—

A single rose,—I ask no more of what your love bestows; It is enough to give, my dear,—a flower to him who goes.

The House of Life is yours, my dear, for many and many a day, But I must ride the lonely shore, the Road to Far Away:

So bring the stirrup-cup and pour a brimming draught, I pray,
And when you take the road, my dear, I'll meet you on the way.

LOVE IN A LOOK

Let me but feel thy look's embrace,
Transparent, pure, and warm,
And I'll not ask to touch thy face,
Or fold thee in mine arm.
For in thine eyes a girl doth rise,
Arrayed in candid bliss,
And draws me to her with a charm
More close than any kiss.

A loving-cup of golden wine,
Songs of a silver brook,
And fragrant breaths of eglantine,
Are mingled in thy look.
More fair they are than any star,
Thy topaz eyes divine—
And deep within their trysting-nook
Thy spirit blends with mine.

MY APRIL LADY

When down the stair at morning
The sunbeams round her float,
Sweet rivulets of laughter
Are rippling in her throat;
The gladness of her greeting
Is gold without alloy;
And in the morning sunlight
I think her name is Joy.

When in the evening twilight
The quiet book-room lies,
We read the sad old ballads,
While from her hidden eyes
The tears are falling, falling,
That give her heart relief;
And in the evening twilight,
I think her name is Grief.

My little April lady,
Of sunshine and of showers
She weaves the old spring magic,
And breaks my heart in flowers!

270 LYRICS OF LABOUR AND ROMANCE

But when her moods are ended,
She nestles like a dove;
Then, by the pain and rapture,
I know her name is Love.

A LOVER'S ENVY

I ENVY every flower that blows
Along the meadow where she goes,
And every bird that sings to her,
And every breeze that brings to her
The fragrance of the rose.

I envy every poet's rhyme
That moves her heart at eventime,
And every tree that wears for her
Its brightest bloom, and bears for her
The fruitage of its prime.

I envy every Southern night

That paves her path with moonbeams white,
And silvers all the leaves for her,
And in their shadow weaves for her
A dream of dear delight.

I envy none whose love requires
Of her a gift, a task that tires:
I only long to live to her,
I only ask to give to her,
All that her heart desires.

FIRE-FLY CITY

LIKE a long arrow through the dark the train is darting,

Bearing me far away, after a perfect day of love's delight:

Wakeful with all the sad-sweet memories of parting,

I lift the narrow window-shade and look out on the night.

Lonely the land unknown, and like a river flowing,

Forest and field and hill are gliding backward still athwart

my dream;

Till in that country strange, and ever stranger growing, A magic city full of lights begins to glow and gleam.

Wide through the landscape dim the lamps are lit in millions; Long avenues unfold clear-shining lines of gold across the green;

Clusters and rings of light, and luminous pavilions,—
Oh, who will tell the city's name, and what these wonders
mean?

Why do they beckon me, and what have they to show me?

Crowds in the blazing street, mirth where the feasters meet,
kisses and wine:

Many to laugh with me, but never one to know me:

A cityful of stranger-hearts and none to beat with mine!

Look how the glittering lines are wavering and lifting,—
Softly the breeze of night scatters the vision bright: and,
passing fair,

Over the meadow-grass and through the forest drifting, The Fire-Fly City of the Dark is lost in empty air!

THE GENTLE TRAVELLER

"Through many a land your journey ran,
And showed the best the world can boast:
Now tell me, traveller, if you can,
The place that pleased you most."

She laid her hands upon my breast,
And murmured gently in my ear,
"The place I loved and liked the best
Was in your arms, my dear!"

NEPENTHE

YES, it was like you to forget,
And cancel in the welcome of your smile
My deep arrears of debt,
And with the putting forth of both your hands
To sweep away the bars my folly set
Between us—bitter thoughts, and harsh demands,
And reckless deeds that seemed untrue
To love, when all the while
My heart was aching through and through
For you, sweet heart, and only you.

Yet, as I turned to come to you again,
I thought there must be many a mile
Of sorrowful reproach to cross,
And many an hour of mutual pain
To bear, until I could make plain
That all my pride was but the fear of loss,
And all my doubt the shadow of despair
To win a heart so innocent and fair;
And even that which looked most ill
Was but the fever-fret and effort vain
To dull the thirst which you alone could still.

But as I turned, the desert miles were crossed, And when I came, the weary hours were sped! For there you stood beside the open door, Glad, gracious, smiling as before, And with bright eyes and tender hands outspread Restored me to the Eden I had lost. Never a word of cold reproof, No sharp reproach, no glances that accuse The culprit whom they hold aloof,-Ah, 'tis not thus that other women use The empire they have won! For there is none like you, beloved, -none Secure enough to do what you have done. Where did you learn this heavenly art,--You sweetest and most wise of all that live,-With silent welcome to impart Assurance of the royal heart That never questions where it would forgive?

None but a queen could pardon me like this!
My sovereign lady, let me lay
Within each rosy palm a loyal kiss
Of penitence, then close the fingers up,
Thus—thus! Now give the cup
Of full nepenthe in your crimson mouth,
And come—the garden blooms with bliss,
The wind is in the south,
The rose of love with dew is wet—
Dear, it was like you to forget!

DAY AND NIGHT

How long is the night, brother,

And how long is the day?

Oh, the day's too short for a happy task,

And the day's too short for play;

And the night's too short for the bliss of love,—

For look, how the edge of the sky grows gray,

While the stars die out in the blue above,

And the wan moon fades away.

How short is the day, brother,
And how short is the night?

Oh, the day's too long for a heavy task,
And long, long, long is the night,

When the wakeful hours are filled with pain,
And the sad heart waits for the thing it fears,

And sighs for the dawn to come again,—
The night is a thousand years!

How long is a life, dear God,

And how fast does it flow?

The measure of life is a flame in the soul:

It is neither swift nor slow.

But the vision of time is the shadow cast
By the fleeting world on the body's wall;
When it fades there is neither future nor past,
But love is all in all.

HESPER

Her eyes are like the evening air,
Her voice is like a rose,
Her lips are like a lovely song,
That ripples as it flows,
And she herself is sweeter than
The sweetest thing she knows.

A slender, haunting, twilight form
Of wonder and surprise,
She seemed a fairy or a child,
Till, deep within her eyes,
I saw the homeward-leading star
Of womanhood arise.

ARRIVAL

Across a thousand miles of sea, a hundred leagues of land, Along a path I had not traced and could not understand, I travelled fast and far for this,—to take thee by the hand.

A pilgrim knowing not the shrine where he would bend his knee,

A mariner without a dream of what his port would be, So fared I with a seeking heart until I came to thee.

O cooler than a grove of palm in some heat-weary place, O fairer than an isle of calm after the wild sea race, The quiet room adorned with flowers where first I saw thy face!

Then furl the sail, let fall the oar, forget the paths of foam! The fate that made me wander far at last has brought me home To thee, dear haven of my heart, and I no more will roam.

DEPARTURE

OH, why are you shining so bright, big Sun,
And why is the garden so gay?

Do you know that my days of delight are done,
Do you know I am going away?

If you covered your face with a cloud, I'd dream
You were sorry for me in my pain,
And the heavily drooping flowers would seem
To be weeping with me in the rain.

But why is your head so low, sweet heart,
And why are your eyes overcast?

Are you crying because you know we must part,
Do you think this embrace is our last?

Then kiss me again, and again, and again,
Look up as you bid me good-bye!

For your face is too dear for the stain of a tear,
And your smile is the sun in my sky.

THE BLACK BIRDS

Ι

Once, only once, I saw it clear,—
That Eden every human heart has dreamed A hundred times, but always far away!
Ah, well do I remember how it seemed,
Through the still atmosphere
Of that enchanted day,
To lie wide open to my weary feet:
A little land of love and joy and rest,
With meadows of soft green,
Rosy with cyclamen, and sweet
With delicate breath of violets unseen,—
And, tranquil 'mid the bloom
As if it waited for a coming guest,
A little house of peace and joy and love
Was nested like a snow-white dove.

II

From the rough mountain where I stood, Homesick for happiness, Only a narrow valley and a darkling wood To cross, and then the long distress
Of solitude would be forever past,—
I should be home at last.
But not too soon! oh, let me linger here
And feed my eyes, hungry with sorrow,
On all this loveliness, so near,
And mine to-morrow!

TTT

Then, from the wood, across the silvery blue, A dark bird flew, Silent, with sable wings. Close in his wake another came,-Fragments of midnight floating through The sunset flame,-Another and another, weaving rings Of blackness on the primrose sky,-Another, and another, look, a score, A hundred, yes, a thousand rising heavily From that accursed, dumb, and ancient wood, They boiled into the lucid air Like smoke from some deep caldron of despair! And more, and more, and ever more, The numberless, ill-omened brood Flapping their ragged plumes,

LYRICS OF LABOUR AND ROMANCE

282

Possessed the landscape and the evening light With menaces and glooms.

Oh, dark, dark, dark they hovered o'er the place Where once I saw the little house so white Amid the flowers, covering every trace Of beauty from my troubled sight,—
And suddenly it was night!

τv

At break of day I crossed the wooded vale; And while the morning made A trembling light among the tree-tops pale, I saw the sable birds on every limb, Clinging together closely in the shade, And croaking placidly their surly hymn. But, oh, the little land of peace and love That those night-loving wings had poised above,— Where was it gone? Lost, lost, forevermore! Only a cottage, dull and gray, In the cold light of dawn, With iron bars across the door: Only a garden where the drooping head Of one sad rose, foreboding its decay, Hung o'er a barren bed:

Only a desolate field that lay
Untilled beneath the desolate day,—
Where Eden seemed to bloom I found but these!
So, wondering, I passed along my way,
With anger in my heart, too deep for words,
Against that grove of evil-sheltering trees,
And the black magic of the croaking birds.

WITHOUT DISGUISE

If I have erred in showing all my heart,
And lost your favour by a lack of pride;
If standing like a beggar at your side
With naked feet, I have forgot the art
Of those who bargain well in passion's mart,
And win the thing they want by what they hide;
Be mine the fault as mine the hope denied,
Be mine the lover's and the loser's part.

The sin, if sin it was, I do repent,
And take the penance on myself alone;
Yet after I have borne the punishment,
I shall not fear to stand before the throne
Of Love with open heart, and make this plea:
"At least I have not lied to her nor Thee!"

AN HOUR

You only promised me a single hour:
But while it passed I journeyed through a year
Of life: the joy of finding you,—the fear
Of losing you again,—the sense of power
To make you all my own,—the sudden shower
Of tears that came because you were more dear
Than words could ever tell,—and then, the clear
Enraptured bloom of love's soft crimson flower.

An hour,—a year,—I felt your bosom rise
And fall with mystic tides, and saw the gleam
Of undiscovered stars within yours eyes,—
A year,—an hour? I knew not, for the stream
Of love had carried me to Paradise,
And all the forms of Time were like a dream.

"RAPPELLE-TOI"

REMEMBER, when the timid light

Through the enchanted hall of dawn is gleaming;
Remember, when the pensive night

Beneath her silver-sprinkled veil walks dreaming;

When pleasure calls thee and thy heart beats high,

When tender joys through evening shades draw nigh,

Hark, from the woodland deeps

A gentle whisper creeps,

Remember!

Remember, when the hand of fate

My life from thine forevermore has parted;

When sorrow, exile, and the weight

Of lonely years have made me heavy-hearted;

Think of my loyal love, my last adieu;

Absence and time are naught, if we are true;

Long as my heart shall beat,

To thine it will repeat,

Remember!

Remember, when the cool, dark tomb Receives my heart into its quiet keeping, And some sweet flower begins to bloom

Above the grassy mound where I am sleeping;

Ah then, my face thou nevermore shalt see,

But still my soul will linger close to thee,

And in the holy place of night,

The litany of love recite,—

Remember!

From the French of Alfred de Musset.

EIGHT ECHOES FROM THE POEMS OF AUGUSTE ANGELLIER

Ι

THE IVORY CRADLE

The cradle I have made for thee
Is carved of orient ivory,
And curtained round with wavy silk
More white than hawthorn-bloom or milk.

A twig of box, a lilac spray, Will drive the goblin-horde away; And charm thy childlike heart to keep Her happy dream and virgin sleep.

Within that pure and fragrant nest, I'll rock thy gentle soul to rest, With tender songs we need not fear To have a passing angel hear.

Ah, long and long I fain would hold The snowy curtain's guardian fold Around thy crystal visions, born In clearness of the early morn. But look, the sun is glowing red With triumph in his golden bed; Aurora's virgin whiteness dies In crimson glory of the skies.

The rapid flame will burn its way Through these white curtains, too, one day; The ivory cradle will be left Undone, and broken, and bereft.

II

DREAMS

Often I dream your big blue eyes,

Though loth their meaning to confess,
Regard me with a clear surprise

Of dawning tenderness.

Often I dream you gladly hear

The words I hardly dare to breathe,—
The words that falter in their fear

To tell what throbs beneath.

Often I dream your hand in mine Falls like a flower at eventide, And down the path we leave a line Of footsteps side by side. But ah, in all my dreams of bliss,
In passion's hunger, fever's drouth,
I never dare to dream of this:
My lips upon your mouth.

And so I dream your big blue eyes,

That look on me with tenderness,

Grow wide, and deep, and sad, and wise,

And dim with dear distress.

III

THE GARLAND OF SLEEP

A wreath of poppy flowers,
With leaves of lotus blended,
Is carved on Life's façade of hours,
From night to night suspended.

Along the columned wall,

From birth's low portal starting,
It flows, with even rise and fall,

To death's dark door of parting.

How short each measured arc,

How brief the columns' number!

The wreath begins and ends in dark,

And leads from sleep to slumber.

The marble garland seems,
With braided leaf and bloom,
To deck the palace of our dreams
As if it were a tomb.

IV

TRANQUIL HABIT

Dear tranquil Habit, with her silent hands,

Doth heal our deepest wounds from day to day
With cooling, soothing oil, and firmly lay
Around the broken heart her gentle bands.

Her nursing is as calm as Nature's care;

She doth not weep with us; yet none the less
Her quiet fingers weave forgetfulness,—
We fall asleep in peace when she is there.

Upon the mirror of the mind her breath
Is like a cloud, to hide the fading trace
Of that dear smile, of that remembered face,
Whose presence were the joy and pang of death.

And he who clings to sorrow overmuch,

Weeping for withered grief, has cause to bless,

More than all cries of pity and distress,—

Dear tranquil Habit, thy consoling touch!

V

THE OLD BRIDGE

On the old, old bridge, with its crumbling stones
All covered with lichens red and gray,
Two lovers were talking in sweet low tones:
And we were they!

As he leaned to breathe in her willing ear
The love that he vowed would never die,
He called her his darling, his dove most dear:

And he was I!

She covered her face from the pale moonlight With her trembling hands, but her eyes looked through, And listened and listened with long delight:

And she was you!

On the old, old bridge, where the lichens rust,
Two lovers are learning the same old lore;
He tells his love, and she looks her trust:
But we,—no more!

 $\mathbf{v}\mathbf{I}$

EYES AND LIPS

Ι

Our silent eyes alone interpreted

The new-born feeling in the heart of each:
In yours I read your sorrow without speech,
Your lonely struggle in their tears unshed.
Behind their dreamy sweetness, as a veil,
I saw the moving lights of trouble shine;
And then my eyes were brightened as with wine,
My spirit reeled to see your face grow pale!

Our deepening love, that is not yet allowed
Another language than the eyes, doth learn
To speak it perfectly: above the crowd
Our looks exchange avowals and desires,—
Like wave-divided beacon lights that burn,
And talk to one another by their fires.

2

When I embrace her in a fragrant shrine
Of climbing roses, my first kiss shall fall
On you, sweet eyes, that mutely told me all,—
Through you my soul will rise to make her mine.

Upon your drooping lids, blue-veined and fair,
The touch of tenderness I first will lay,
You springs of joy, lights of my gloomy day,
Whose dear discovered secret bade me dare!

And when you open, eyes of my fond dove, Your look will shine with new delight, made sure By this forerunner of a faithful love.

'Tis just, dear eyes, so pensive and so pure, That you should bear the sealing kisses true Of love unhoped that came to me through you.

3

This was my thought; but when beneath the rose
That hides the lonely bench where lovers rest,
In friendly dusk I held her on my breast
For one brief moment,—while I saw you close,
Dear, yielding eyes, as if your lids, blue-veined
And pure, were meekly fain at last to bear
The proffered homage of my wistful prayer,—
In that high moment, by your grace obtained,

Forgetting your avowals, your alarms, Your anguish and your tears, sweet weary eyes, Forgetting that you gave her to my arms, I broke my promise; and my first caress, Ungrateful, sought her lips in sweet surprise,— Her lips, which breathed a word of tenderness!

VII

AN EVOCATION

When first upon my brow I felt your kiss,
A sudden splendour filled me, like the ray
That promptly runs to crown the hills with bliss
Of purple dawn before the golden day,
And ends the gloom it crosses at one leap.
My brow was not unworthy your caress;
For some foreboding joy had bade me keep
From all affront the place your lips would bless.

Yet when your mouth upon my mouth did lay
The royal touch, no rapture made me thrill,
But I remained confused, ashamed, and still;
Beneath your kiss, my queen without a stain,
I felt,—like ghosts who rise at Judgment Day,—
A throng of ancient kisses vile and vain!

VIII

RESIGNATION

т

Well, you will triumph, dear and noble friend!

The holy love that wounded you so deep
Will bring you balm, and on your heart asleep
The fragrant dew of healing will descend.
Your children,—ah, how quickly they will grow
Between us, like a wall that fronts the sun,
Lifting a screen with rosy buds o'errun,
To hide the shaded path where I must go.

You'll walk in light; and dreaming less and less
Of him who droops in gloom beyond the wall,
Your mother-soul will fill with happiness
When first you hear your grandchild's babbling call,
Beneath the braided bloom of flower and leaf
That life has wrought to veil your vanished grief.

2

Then I alone shall suffer! I shall bear
The double burden of our grief alone,
While I enlarge my soul to take your share
Of pain and hold it close beside my own.

Our love is torn asunder; but the crown
Of thorns that love has woven I will make
My relic sacrosanct, and press it down
Upon my bleeding heart that will not break.

Ah, that will be the depth of solitude!

For my regret, that evermore endures,
Will know that new-born hope has conquered yours;
And when the evening comes, no gentle brood
Of wondering children, gathered at my side,
Will sooth away the tears I cannot hide.

Freely rendered from the French, 1911.

LOVE'S NEARNESS

- I THINK of thee when golden sunbeams glimmer Across the sea;
- And when the waves reflect the moon's pale shimmer I think of thee.
- I see thy form when down the distant highway

 The dust-clouds rise;
- In darkest night, above the mountain by-way I see thine eyes.
- I hear thee when the ocean-tides returning Aloud rejoice;
- And on the lonely moor in silence yearning I hear thy voice.
- I dwell with thee; though thou art far removed, Yet thou art near.
- The sun goes down, the stars shine out,—Belovèd If thou wert here!
- From the German of Goethe, 1898.

TWO SONGS OF HEINE

Ι

"EIN FICHTENBAUM"

A FIR-TREE standeth lonely On a barren northern height, Asleep, while winter covers His rest with robes of white.

In dreams, he sees a palm-tree In the golden morning-land; She droops alone and silent In burning wastes of sand.

TT

"DU BIST WIE EINE BLUME"

Fair art thou as a flower

And innocent and shy:

I look on thee and sorrow;

I grieve, I know not why.

I long to lay, in blessing,
My hand upon thy brow,
And pray that God may keep thee
As fair and pure as now.
1872.

THE RIVER OF DREAMS

The river of dreams runs quietly down

From its hidden home in the forest of sleep,
With a measureless motion calm and deep;
And my boat slips out on the current brown,
In a tranquil bay where the trees incline
Far over the waves, and creepers twine
Far over the boughs, as if to steep
Their drowsy bloom in the tide that goes
By a secret way that no man knows,
Under the branches bending,
Under the shadows blending,
While the body rests, and the passive soul
Is drifted along to an unseen goal,
While the river of dreams runs down.

The river of dreams runs gently down,
With a leisurely flow that bears my bark
Out of the visionless woods of dark,
Into a glory that seems to crown
Valley and hill with light from far,
Clearer than sun or moon or star,
Luminous, wonderful, weird, oh, mark

How the radiance pulses everywhere,
In the shadowless vault of lucid air!

Over the mountains shimmering,
Up from the fountains glimmering,—
'Tis the mystical glow of the inner light,
That shines in the very noon of night,
While the river of dreams runs down.

The river of dreams runs murmuring down,

Through the fairest garden that ever grew;

And now, as my boat goes drifting through,

A hundred voices arise to drown

The river's whisper, and charm my ear

With a sound I have often longed to hear,—

A magical music, strange and new,

The wild-rose ballad, the lilac-song,

The virginal chant of the lilies' throng,

Blue-bells silverly ringing,

Pansies merrily singing,—

For all the flowers have found their voice;

And I feel no wonder, but only rejoice,

While the river of dreams runs down.

The river of dreams runs broadening down,

Away from the peaceful garden-shore,

With a current that deepens more and more,

302 LYRICS OF LABOUR AND ROMANCE

By the league-long walls of a mighty town;
And I see the hurrying crowds of men
Gather like clouds and dissolve again;
But never a face I have seen before.
They come and go, they shift and change,
Their ways and looks are wild and strange,—
This is a city haunted,

A multitude enchanted!

At the sight of the throng I am dumb with fear, And never a sound from their lips I hear, While the river of dreams runs down.

The river of dreams runs darkly down
Into the heart of a desolate land,
With ruined temples half-buried in sand,
And riven hills, whose black brows frown
Over the shuddering, lonely wave.
The air grows dim with the dust of the grave;
No sign of life on the dreary strand;
No ray of light on the moutain's crest;
And a weary wind that cannot rest
Comes down the valley creeping,
Lamenting, wailing, weeping,—
I strive to cry out, but my fluttering breath
Is choked with the clinging fog of death,
While the river of dreams runs down.

The river of dreams runs trembling down, Out of the valley of nameless fear, Into a country calm and clear,

With a mystical name of high renown,—
A name that I know, but may not tell,—
And there the friends that I loved so well,
Old companions forever dear,
Come beckoning down to the river shore,
And hail my boat with the voice of yore.

Fair and sweet are the places

Where I see their unchanged faces!

And I feel in my heart with a secret thrill,

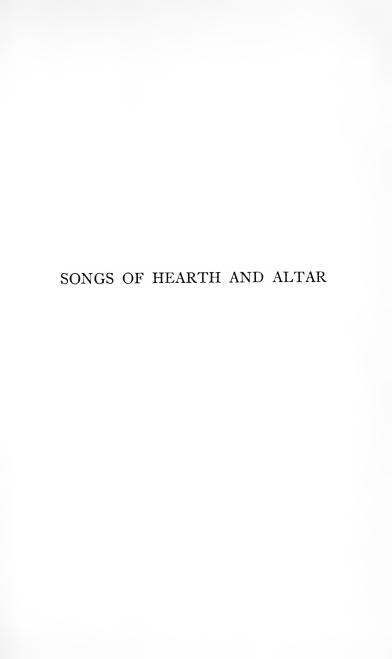
That the loved and lost are living still,

While the river of dreams runs down.

The river of dreams runs dimly down
By a secret way that no man knows;
But the soul lives on while the river flows
Through the gardens bright and the forests brown;
And I often think that our whole life seems
To be more than half made up of dreams.
The changing sights and the passing shows,
The morning hopes and the midnight fears,
Are left behind with the vanished years;
Onward, with ceaseless motion,
The life-stream flows to the ocean,

304 LYRICS OF LABOUR AND ROMANCE

While we follow the tide, awake or asleep, Till we see the dawn on Love's great deep, And the shadows melt, and the soul is free,—The river of dreams has reached the sea.





"LITTLE BOATIE"

A SLUMBER-SONG FOR THE FISHERMAN'S CHILD

Furl your sail, my little boatie;

Here's the haven still and deep,

Where the dreaming tides in-streaming

Up the channel creep.

Now the sunset breeze is dying;

Hear the plover, landward flying,

Softly down the twilight crying;

Come to anchor, little boatie,

In the port of Sleep.

Far away, my little boatie,
Roaring waves are white with foam;
Ships are striving, onward driving,
Day and night they roam.
Father's at the deep-sea trawling,
In the darkness, rowing, hauling,
While the hungry winds are calling,—
God protect him, little boatie,
Bring him safely home!

Not for you, my little boatie,

Is the wide and weary sea;
You're too slender, and too tender,

You must bide with me.
All day long you have been straying
Up and down the shore and playing;
Come to harbour, no delaying!

Day is over, little boatie,

Night falls suddenly.

Furl your sail, my little boatie,

Fold your wings, my weary dove.

Dews are sprinkling, stars are twinkling

Drowsily above.

Cease from sailing, cease from rowing;

Rock upon the dream-tide, knowing

Safely o'er your rest are glowing,

All the night, my little boatie,

Harbour-lights of love.

A MOTHER'S BIRTHDAY

LORD JESUS, Thou hast known
A mother's love and tender care:
And Thou wilt hear,
While for my own
Mother most dear
I make this birthday prayer.

Protect her life, I pray,

Who gave the gift of life to me;

And may she know,

From day to day,

The deepening glow

Of joy that comes from Thee.

As once upon her breast

Fearless and well content I lay,
So let her heart,
On Thee at rest,
Feel fear depart
And trouble fade away.

Ah, hold her by the hand,
As once her hand held mine;
And though she may
Not understand
Life's winding way,
Lead her in peace divine.

I cannot pay my debt

For all the love that she has given;

But Thou, love's Lord,

Wilt not forget

Her due reward,—

Bless her in earth and heaven.

SANTA CHRISTINA

SAINTS are God's flowers, fragrant souls
That His own hand hath planted,
Not in some far-off heavenly place,
Or solitude enchanted,
But here and there and everywhere,—
In lonely field, or crowded town,
God sees a flower when He looks down.

Some wear the lily's stainless white,
And some the rose of passion,
And some the violet's heavenly blue,
But each in its own fashion,
With silent bloom and soft perfume,
Is praising Him who from above
Beholds each lifted face of love.

One such I knew,—and had the grace
To thank my God for knowing:
The beauty of her quiet life
Was like a rose in blowing,
So fair and sweet, so all-complete

And all unconscious, as a flower, That light and fragrance were her dower.

No convent-garden held this rose,
Concealed like secret treasure;
No royal terrace guarded her
For some sole monarch's pleasure.
She made her shrine, this saint of mine,
In a bright home where children played;
And there she wrought and there she prayed.

In sunshine, when the days were glad,
She had the art of keeping
The clearest rays, to give again
In days of rain and weeping;
Her blessed heart could still impart
Some portion of its secret grace,
And charity shone in her face.

In joy she grew from year to year;
And sorrow made her sweeter;
And every comfort, still more kind;
And every loss, completer.

Her children came to love her name,—
"Christina,"—'t was a lip's caress;
And when they called, they seemed to bless.

No more they call, for she is gone
Too far away to hear them;
And yet they often breathe her name
As if she lingered near them;
They cannot reach her with love's speech,
But when they say "Christina" now
'T is like a prayer or like a vow:

A vow to keep her life alive
In deeds of pure affection,
So that her love shall find in them
A daily resurrection;
A constant prayer that they may wear
Some touch of that supernal light
With which she blossoms in God's sight.

RENDEZVOUS

I count that friendship little worth
Which has not many things untold,
Great longings that no words can hold,
And passion-secrets waiting birth.

Along the slender wires of speech

Some message from the heart is sent;

But who can tell the whole that's meant?

Our dearest thoughts are out of reach.

I have not seen thee, though mine eyes
Hold now the image of thy face;
In vain, through form, I strive to trace
The soul I love: that deeper lies.

A thousand accidents control

Our meeting here. Clasp hand in hand,
And swear to meet me in that land

Where friends hold converse soul to soul.

GRATITUDE

"Do you give thanks for this?—or that?" No, God be thanked

I am not grateful

In that cold, calculating way, with blessings ranked As one, two, three, and four,—that would be hateful.

I only know that every day brings good above My poor deserving;

I only feel that in the road of Life true Love Is leading me along and never swerving.

Whatever gifts and mercies to my lot may fall,

I would not measure

As worth a certain price in praise, or great or small; But take and use them all with simple pleasure.

For when we gladly eat our daily bread, we bless

The Hand that feeds us;

And when we tread the road of Life in cheerfulness, Our very heart-beats praise the Love that leads us.

TRANSFORMATION

Only a little shrivelled seed,
It might be flower, or grass, or weed;
Only a box of earth on the edge
Of a narrow, dusty window-ledge;
Only a few scant summer showers;
Only a few clear shining hours;
That was all. Yet God could make
Out of these, for a sick child's sake,
A blossom-wonder, fair and sweet
As ever broke at an angel's feet.

Only a life of barren pain,
Wet with sorrowful tears for rain,
Warmed sometimes by a wandering gleam
Of joy, that seemed but a happy dream;
A life as common and brown and bare
As the box of earth in the window there;
Yet it bore, at last, the precious bloom
Of a perfect soul in that narrow room;
Pure as the snowy leaves that fold
Over the flower's heart of gold.

1875.

THE WIND OF SORROW

The fire of love was burning, yet so low

That in the peaceful dark it made no rays,
And in the light of perfect-placid days

The ashes hid the smouldering embers' glow.

Vainly, for love's delight, we sought to throw

New pleasures on the pyre to make it blaze:
In life's calm air and tranquil-prosperous ways

We missed the radiant heat of long ago.

Then in the night, a night of sad alarms,

Bitter with pain and black with fog of fears
That drove us trembling to each other's arms,

Across the gulf of darkness and salt tears
Into life's calm the wind of sorrow came,
And fanned the fire of love to clearest flame.

HIDE AND SEEK

I

All the trees are sleeping, all the winds are still, All the fleecy flocks of cloud, gone beyond the hill; Through the noon-day silence, down the woods of June, Hark, a little hunter's voice, running with a tune.

"Hide and seek!

"When I speak,

"You must answer me:

"Call again,

"Merry men,

"Coo-ee, coo-ee, coo-ee!"

Now I hear his footsteps rustling in the grass: Hidden in my leafy nook, shall I let him pass? Just a low, soft whistle,—quick the hunter turns, Leaps upon me laughing loud, rolls me in the ferns.

"Hold him fast,

"Caught at last!

"Now you're it, you see.

"Hide your eye,

"Till I cry,

"Coo-ee, coo-ee, coo-ee!"

 \mathbf{II}

Long ago he left me, long and long ago; Now I wander thro' the world, seeking high and low. Hidden safe and happy, in some pleasant place,— If I could but hear his voice, soon I'd see his face!

Far away,
Many a day,
Where can Barney be?
Answer, dear,
Don't you hear?
Coo-ee, coo-ee!

Birds that every spring-time sung him full of joy, Flowers he loved to pick for me, mind me of my boy. Somewhere he is waiting till my steps come nigh; Love may hide itself awhile, but love can never die.

Heart, be glad,
The little lad
Will call again to thee:
"Father dear,
"Heaven is here,
"Coo-ee, coo-ee!"

1898.

AUTUMN IN THE GARDEN

- When the frosty kiss of Autumn in the dark

 Makes its mark
- On the flowers, and the misty morning grieves

 Over fallen leaves;
- Then my olden garden, where the golden soil

 Through the toil
- Of a hundred years is mellow, rich, and deep, Whispers in its sleep.
- 'Mid the crumpled beds of marigold and phlox,
 Where the box
- Borders with its glossy green the ancient walks, There's a voice that talks
- Of the human hopes that bloomed and withered here Year by year,—
- And the dreams that brightened all the labouring hours, Fading as the flowers.
- Yet the whispered story does not deepen grief;

 But relief
- For the loneliness of sorrow seems to flow From the Long-Ago,

When I think of other lives that learned, like mine, To resign,

And remember that the sadness of the fall Comes alike to all.

What regrets, what longings for the lost were theirs!

And what prayers

For the silent strength that nerves us to endure Things we cannot cure!

Pacing up and down the garden where they paced,

I have traced

All their well-worn paths of patience, till I find Comfort in my mind.

Faint and far away their ancient griefs appear:

Yet how near

Is the tender voice, the careworn, kindly face, Of the human race!

Let us walk together in the garden, dearest heart,— Not apart!

They who know the sorrows other lives have known Never walk alone.

October, 1903

THE MESSAGE

Waking from tender sleep,
My neighbour's little child
Put out his baby hand to me,
Looked in my face, and smiled.

It seems as if he came

Home from a happy land,

To bring a message to my heart

And make me understand.

Somewhere, among bright dreams,
A child that once was mine
Has whispered wordless love to him,
And given him a sign.

Comfort of kindly speech,
And counsel of the wise,
Have helped me less than what I read
In those deep-smiling eyes.

Sleep sweetly, little friend,
And dream again of heaven:
With double love I kiss your hand,—
Your message has been given.
November, 1903.

DULCIS MEMORIA

Long, long ago I heard a little song,
(Ah, was it long ago, or yesterday?)
So lowly, slowly wound the tune along,
That far into my heart it found the way:
A melody consoling and endearing;
And now, in silent hours, I'm often hearing
The small, sweet song that does not die away.

Long, long ago I saw a little flower—
(Ah, was it long ago, or yesterday?)
So fair of face and fragrant for an hour,
That something dear to me it seemed to say,—
A wordless joy that blossomed into being;
And now, in winter days, I'm often seeing
The friendly flower that does not fade away.

Long, long ago we had a little child,—
(Ah, was it long ago, or yesterday?)
Into his mother's eyes and mine he smiled
Unconscious love; warm in our arms he lay.
An angel called! Dear heart, we could not hold him;
Yet secretly your arms and mine infold him—
Our little child who does not go away.

Long, long ago? Ah, memory, make it clear—
(It was not long ago, but yesterday,)
So little and so helpless and so dear—
Let not the song be lost, the flower decay!
His voice, his waking eyes, his gentle sleeping:
The smallest things are safest in thy keeping,—
Sweet memory, keep our child with us alway.

November, 1903.

THE WINDOW

All night long, by a distant bell
The passing hours were notched
On the dark, while her breathing rose and fell;
And the spark of life I watched
In her face was glowing, or fading,—who could tell?—
And the open window of the room,
With a flare of yellow light,
Was peering out into the gloom,
Like an eye that searched the night.

Oh, what do you see in the dark, little window, and why do you peer?

"I see that the garden is crowded with creeping forms of fear: Little white ghosts in the locust-tree, wave in the nightwind's breath,

And low in the leafy laurels the lurking shadow of death."

Sweet, clear notes of a waking bird

Told of the passing away

Of the dark,—and my darling may have heard;

For she smiled in her sleep, while the ray

Of the rising dawn spoke joy without a word,

Till the splendour born in the east outburned
The yellow lamplight, pale and thin,
And the open window slowly turned
To the eye of the morning, looking in.

Oh, what do you see in the room, little window, that makes you so bright?

"I see that a child is asleep on her pillow, soft and white: With the rose of life on her lips, the pulse of life in her breast,

And the arms of God around her, she quietly takes her rest." Neuilly, June, 1909.

PEACE

WITH eager heart and will on fire, I strove to win my great desire. "Peace shall be mine," I said; but life Grew bitter in the barren strife.

My soul was weary, and my pride Was wounded deep; to Heaven I cried, "God grant me peace or I must die;" The dumb stars glittered no reply.

Broken at last, I bowed my head, Forgetting all myself, and said, "Whatever comes, His will be done;" And in that moment peace was won.

THE BARGAIN

What shall I give for thee,
Thou Pearl of greatest price?
For all the treasures I possess
Would not suffice.

I give my store of gold;
It is but earthly dross:
But thou wilt make me rich, beyond
All fear of loss.

Mine honours I resign;
They are but small at best:
Thou like a royal star wilt shine
Upon my breast.

My worldly joys I give,

The flowers with which I played;

Thy beauty, far more heavenly fair,

Shall never fade.

Dear Lord, is that enough?

Nay, not a thousandth part.

Well, then, I have but one thing more:

Take Thou my heart.

BITTER-SWEET

Just to give up, and trust
All to a Fate unknown,
Plodding along life's road in the dust,
Bounded by walls of stone;
Never to have a heart at peace;
Never to see when care will cease;
Just to be still when sorrows fall—
This is the bitterest lesson of all.

Just to give up, and rest
All on a Love secure,
Out of a world that's hard at the best,
Looking to heaven as sure;
Ever to hope, through cloud and fear,
In darkest night, that the dawn is near;
Just to wait at the Master's feet—
Surely, now, the bitter is sweet.

TO THE CHILD JESUS

Ι

THE NATIVITY

Could every time-worn heart but see Thee once again, A happy human child, among the homes of men, The age of doubt would pass,—the vision of Thy face Would silently restore the childhood of the race.

11

THE FLIGHT INTO EGYPT

Thou wayfaring Jesus, a pilgrim and stranger,
Exiled from heaven by love at thy birth,
Exiled again from thy rest in the manger,
A fugitive child 'mid the perils of earth,—
Cheer with thy fellowship all who are weary,
Wandering far from the land that they love;
Guide every heart that is homeless and dreary,
Safe to its home in thy presence above.

SONG OF A PILGRIM-SOUL

March on, my soul, nor like a laggard stay! March swiftly on. Yet err not from the way Where all the nobly wise of old have trod,—The path of faith, made by the sons of God.

Follow the marks that they have set beside The narrow, cloud-swept track, to be thy guide: Follow, and honour what the past has gained, And forward still, that more may be attained.

Something to learn, and something to forget: Hold fast the good, and seek the better yet: Press on, and prove the pilgrim-hope of youth: The Creeds are milestones on the road to Truth. 1892

HYMN OF JOY

TO THE MUSIC OF BEETHOVEN'S NINTH SYMPHONY

JOYFUL, joyful, we adore Thee,
God of glory, Lord of love;
Hearts unfold like flowers before Thee,
Praising Thee their sun above.
Melt the clouds of sin and sadness;
Drive the dark of doubt away;
Giver of immortal gladness,
Fill us with the light of day!

All Thy works with joy surround Thee,
Earth and heaven reflect Thy rays,
Stars and angels sing around Thee,
Centre of unbroken praise:
Field and forest, vale and mountain,
Blooming meadow, flashing sea,
Chanting bird and flowing fountain,
Call us to rejoice in Thee.

Thou art giving and forgiving, Ever blessing, ever blest, Well-spring of the joy of living, Ocean-depth of happy rest! Thou our Father, Christ our Brother,—
All who live in love are Thine:
Teach us how to love each other,
Lift us to the Joy Divine.

Mortals join the mighty chorus,
Which the morning stars began;
Father-love is reigning o'er us,
Brother-love binds man to man.
Ever singing march we onward,
Victors in the midst of strife;
Joyful music lifts us sunward
In the triumph song of life.

ODE TO PEACE

Ι

IN EXCELSIS

Two dwellings, Peace, are thine. One is the mountain-height, Uplifted in the loneliness of light Beyond the realm of shadows,-fine, And far, and clear,-where advent of the night Means only glorious nearness of the stars, And dawn unhindered breaks above the bars That long the lower world in twilight keep. Thou sleepest not, and hast no need of sleep, For all thy cares and fears have dropped away; The night's fatigue, the fever-fret of day, Are far below thee; and earth's weary wars, In vain expense of passion, pass Before thy sight like visions in a glass,-Or like the wrinkles of the storm that creep Across the sea and leave no trace Of trouble on that immemorial face,-So brief appear the conflicts, and so slight The wounds men give, the things for which they fight!

Here hangs a fortress on the distant steep,—

A lichen clinging to the rock.

There sails a fleet upon the deep,-

A wandering flock

Of snow-winged gulls. And yonder, in the plain,

A marble palace shines,—a grain

Of mica glittering in the rain.

Beneath thy feet the clouds are rolled

By voiceless winds: and far between

The rolling clouds, new shores and peaks are seen,

In shimmering robes of green and gold,

And faint aerial hue

That silent fades into the silent blue.

Thou, from thy mountain-hold,

All day in tranquil wisdom looking down

On distant scenes of human toil and strife,

All night, with eyes aware of loftier life

Uplifted to the sky where stars are sown,

Dost watch the everlasting fields grow white

Unto the harvest of the sons of light,

And welcome to thy dwelling-place sublime

The few strong souls that dare to climb

The slippery crags, and find thee on the height.

Π

DE PROFUNDIS

But in the depth thou hast another home,
For hearts less daring, or more frail.
Thou dwellest also in the shadowy vale;
And pilgrim-souls that roam
With weary feet o'er hill and dale,
Bearing the burden and the heat
Of toilful days,

Turn from the dusty ways

To find thee in thy green and still retreat.

Here is no vision wide outspread

Before the lonely and exalted seat

Of all-embracing knowledge. Here, instead,

A little cottage, and a garden-nook,

With outlooks brief and sweet
Across the meadows, and along the brook,—

A little stream that nothing knows
Of the great sea to which it gladly flows,—
A little field that bears a little wheat
To make a portion of earth's daily bread.

The vast cloud-armies overhead
Are marshalled, and the wild wind blows
Its trumpet, but thou canst not tell
Whence comes the wind nor where it goes;

Nor dost thou greatly care, since all is well.

Thy daily task is done,

And now the wages of repose are won.

Here friendship lights the fire, and every heart,

Sure of itself and sure of all the rest,

Dares to be true, and gladly takes its part In open converse, bringing forth its best:

And here is music, melting every chain

Of lassitude and pain:

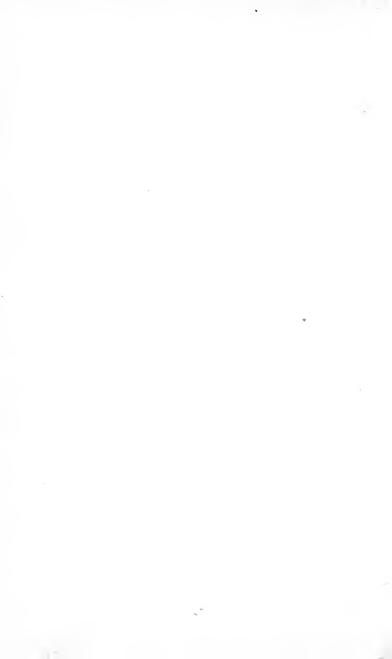
And here, at last, is sleep with silent gifts,—

Kind sleep, the tender nurse who lifts

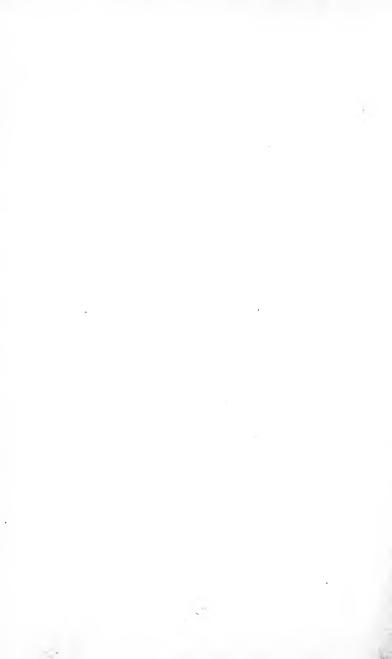
The soul grown weary of the waking world,

And lays it, with its thoughts all furled, Its fears forgotten, and its passions still,

On the deep bosom of the Eternal Will.



INSCRIPTIONS, GREETINGS, AND EPIGRAMS



FOR KATRINA'S SUN-DIAL

IN HER GARDEN OF YADDO

Hours fly, Flowers die. New days, New ways, Pass by. Love stays.

Time is

Too Slow for those who Wait,
Too Swift for those who Fear,
Too Long for those who Grieve,
Too Short for those who Rejoice;
But for those who Love,
Time is not.

FOR KATRINA'S WINDOW

IN HER TOWER OF YADDO

This is the window's message,
In silence, to the Queen:
"Thou hast a double kingdom
And I am set between:
Look out and see the glory,
On hill and plain and sky:
Look in and see the light of love
That nevermore shall die!"

L'EN VOI

Window in the Queen's high tower, This shall be thy magic power! Shut the darkness and the doubt, Shut the storm and conflict, out; Wind and hail and snow and rain Dash against thee all in vain. Let in nothing from the night,— Let in every ray of light.

FOR THE FRIENDS AT HURSTMONT

THE HOUSE

THE cornerstone in Truth is laid,
The guardian walls of Honour made,
The roof of Faith is built above,
The fire upon the hearth is Love:
Though rains descend and loud winds call,
This happy house shall never fall.

THE HEARTH

When the logs are burning free, Then the fire is full of glee: When each heart gives out its best, Then the talk is full of zest: Light your fire and never fear, Life was made for love and cheer.

THE DOOR

The lintel low enough to keep out pomp and pride:
The threshold high enough to turn deceit aside:
The doorband strong enough from robbers to defend:
This door will open at a touch to welcome every friend.

THE DIAL

TIME can never take

What Time did not give;

When your shadows have all passed,

I shall live.

THE SUN-DIAL AT MORVEN

FOR BAYARD AND HELEN STOCKTON

Two hundred years of blessing I record For Morven's house, protected by the Lord: And still I stand among old-fashioned flowers To mark for Morven many sunlit hours.

THE SUN-DIAL AT WELLS COLLEGE

FOR THE CLASS OF 1904

THE shadow by my finger cast
Divides the future from the past:
Before it, sleeps the unborn hour,
In darkness, and beyond thy power:
Behind its unreturning line,
The vanished hour, no longer thine:
One hour alone is in thy hands,—
The NOW on which the shadow stands.

March, 1904.

TO MARK TWAIN

1

AT A BIRTHDAY FEAST

With memories old and wishes new
We crown our cups again,
And here's to you, and here's to you
With love that ne'er shall wane!
And may you keep, at sixty-seven,
The joy of earth, the hope of heaven,
And fame well-earned, and friendship true,
And peace that comforts every pain,
And faith that fights the battle through,
And all your heart's unbounded wealth,
And all your wit, and all your health,—
Yes, here's a hearty health to you,
And here's to you, and here's to you,
Long life to you, Mark Twain.

Π

AT THE MEMORIAL MEETING

We knew you well, dear Yorick of the West, The very soul of large and friendly jest! You loved and mocked the broad grotesque of things In this new world where all the folk are kings.

Your breezy humour cleared the air, with sport Of shams that haunt the democratic court; For even where the sovereign people rule, A human monarch needs a royal fool.

Your native drawl lent flavour to your wit; Your arrows lingered but they always hit; Homeric mirth around the circle ran, But left no wound upon the heart of man.

We knew you kind in trouble, brave in pain; We saw your honour kept without a stain; We read this lesson of our Yorick's years,—
True wisdom comes with laughter and with tears.

November 30, 1910.

STARS AND THE SOUL

(To Charles A. Young, Astronomer)

"Two things," the wise man said, "fill me with awe: The starry heavens and the moral law." Nay, add another wonder to thy roll,— The living marvel of the human soul!

Born in the dust and cradled in the dark, It feels the fire of an immortal spark, And learns to read, with patient, searching eyes, The splendid secret of the unconscious skies.

For God thought Light before He spoke the word; The darkness understood not, though it heard: But man looks up to where the planets swim, And thinks God's thoughts of glory after Him.

What knows the star that guides the sailor's way, Or lights the lover's bower with liquid ray, Of toil and passion, danger and distress, Brave hope, true love, and utter faithfulness? But human nearts that suffer good and ill, And hold to virtue with a loyal will, Adorn the law that rules our mortal strife With star-surpassing victories of life.

So take our thanks, dear reader of the skies, Devout astronomer, most humbly wise, For lessons brighter than the stars can give, And inward light that helps us all to live.

TO JULIA MARLOWE

(READING KEATS' ODE ON A GRECIAN URN)

Long had I loved this "Attic shape," the brede
Of marble maidens round this urn divine:
But when your golden voice began to read,
The empty urn was filled with Chian wine.

TO JOSEPH JEFFERSON

May 4th, 1898.—To-day, fishing down the Swiftwater, I found Joseph Jefferson on a big rock in the middle of the brook, casting the fly for trout He said he had fished this very stream three-and-forty years ago; and near by, in the Paradise Valley, he wrote his famous play.—Leaf from my Diary.

WE met on Nature's stage,
And May had set the scene,
With bishop-caps standing in delicate ranks,
And violets blossoming over the banks,
While the brook ran full between.

The waters rang your call,
With frolicsome waves a-twinkle,—
They knew you as boy, and they knew you as man,
And every wave, as it merrily ran,
Cried, "Enter Rip van Winkle!"

THE MOCKING-BIRD

In mirth he mocks the other birds at noon, Catching the lilt of every easy tune; But when the day departs he sings of love,— His own wild song beneath the listening moon.

THE EMPTY QUATRAIN

A FLAWLESS cup: how delicate and fine
The flowing curve of every jewelled line!
Look, turn it up or down, 't is perfect still,—
But holds no drop of life's heart-warming wine.

PAN LEARNS MUSIC

FOR A SCULPTURE BY SARA GREENE

LIMBER-limbed, lazy god, stretched on the rock,
Where is sweet Echo, and where is your flock?
What are you making here? "Listen," said Pan,—
"Out of a river-reed music for man!"

THE VALLEY OF VAIN VERSES

THE grief that is but feigning,
And weeps melodious tears
Of delicate complaining
From self-indulgent years;
The mirth that is but madness,
And has no inward gladness
Beneath its laughter straining,
To capture thoughtless ears;

The love that is but passion
Of amber-scented lust;
The doubt that is but fashion;
The faith that has no trust;
These Thamyris disperses,
In the Valley of Vain Verses
Below the Mount Parnassian,—
And they crumble into dust.

THE SHEPHERD OF NYMPHS

The nymphs a shepherd took
To guard their snowy sheep;
He led them down along the brook,
And guided them with pipe and crook,
Until he fell asleep.

But when the piping stayed,
Across the flowery mead
The milk-white nymphs ran out afraid:
O Thyrsis, wake! Your flock has strayed,—
The nymphs a shepherd need.

ECHOES FROM THE GREEK ANTHOLOGY

Ι

STARLIGHT

WITH two bright eyes, my star, my love, Thou lookest on the stars above:
Ah, would that I the heaven might be
With a million eyes to look on thee.

Plato.

п

ROSELEAF

A little while the rose,
And after that the thorn;
An hour of dewy morn,
And then the glamour goes.
Ah, love in beauty born,
A little while the rose!
Unknown.

Ш

PHOSPHOR-HESPER

O morning star, farewell! My love I now must leave: The hours of day I slowly tell, And turn to her with the twilight bell,— O welcome, star of eve! Meleager.

IV

SEASONS

Sweet in summer, cups of snow, Cooling thirsty lips aglow; Sweet to sailors winter-bound. Spring arrives with garlands crowned; Sweeter yet the hour that covers With one cloak a pair of lovers, Living lost in golden weather, While they talk of love together.

Asclepiades.

V

THE VINE AND THE GOAT

Although you eat me to the root,
I yet shall bear enough of fruit
For wine to sprinkle your dim eyes,
When you are made a sacrifice.
Euenus.

VI THE PROFESSOR

Seven pupils, in the class
Of Professor Callias,
Listen silent while he drawls,—
Three are benches, four are walls.
Unknown.

ONE WORLD

"The worlds in which we live are two
The world 'I am' and the world 'I do."

THE worlds in which we live at heart are one, The world "I am," the fruit of "I have done"; And underneath these worlds of flower and fruit, The world "I love,"—the only living root.

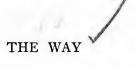
JOY AND DUTY

"Jox is a Duty,"—so with golden lore
The Hebrew rabbis taught in days of yore,
And happy human hearts heard in their speech
Almost the highest wisdom man can reach.

But one bright peak still rises far above,
And there the Master stands whose name is Love,
Saying to those whom weary tasks employ:
"Life is divine when Duty is a Joy."

THE PRISON AND THE ANGEL

SELF is the only prison that can ever bind the soul; Love is the only angel who can bid the gates unroll; And when he comes to call thee, arise and follow fast; His way may lie through darkness, but it leads to light at last.



Who seeks for heaven alone to save his soul, May keep the path, but will not reach the goal; While he who walks in love may wander far, But God will bring him where the Blessed are.

LOVE AND LIGHT

THERE are many kinds of love, as many kinds of light,
And every kind of love makes a glory in the night.
There is love that stirs the heart, and love that gives it rest,
But the love that leads life upward is the noblest and the best.

THE ARROW

Life is an arrow—therefore you must know What mark to aim at, how to use the bow—Then draw it to the head, and let it go!

FOUR THINGS

Four things a man must learn to do
If he would make his record true:
To think without confusion clearly;
To love his fellow-men sincerely;
To act from honest motives purely;
To trust in God and Heaven securely.

?

THE GREAT RIVER

"In la sua volontade è nostra pace."

O MIGHTY river! strong, eternal Will, Wherein the streams of human good and ill Are onward swept, conflicting, to the sea! The world is safe because it floats in Thee.

WAYFARING PSALMS



THE DISTANT ROAD

- BLESSED is the man that beholdeth the face of a friend in a far country,
- The darkness of his heart is melted in the dawning of day within him,
- It is like the sound of a sweet music heard long ago and half forgotten:
- It is like the coming back of birds to a wood when the winter is ended.
- I knew not the sweetness of the fountain till I found it flowing in the desert,
- Nor the value of a friend till we met in a land that was crowded and lonely.
- The multitude of mankind had bewildered me and oppressed me,
- And I complained to God, Why hast thou made the world so wide?
- But when my friend came the wideness of the world had no more terror,
- Because we were glad together among men to whom we were strangers.

- It seemed as if I had been reading a book in a foreign language,
- And suddenly I came upon a page written in the tongue of my childhood:
- This was the gentle heart of my friend who quietly understood me,
- The open and loving heart whose meaning was clear without a word.
- O thou great Companion who carest for all thy pilgrims and strangers,
- I thank thee heartily for the comfort of a comrade on the distant road.

THE WELCOME TENT

This is the thanksgiving of the weary, The song of him that is ready to rest.

It is good to be glad when the day is declining, And the setting of the sun is like a word of peace.

The stars look kindly on the close of a journey, And the tent says welcome when the day's march is done.

For now is the time of the laying down of burdens, And the cool hour cometh to them that have borne the heat.

I have rejoiced greatly in labour and adventure; My heart hath been enlarged in the spending of my strength.

Now it is all gone, yet I am not impoverished, For thus only I inherit the treasure of repose.

Blessed be the Lord that teacheth my fingers to loosen, And cooleth my feet with water after the dust of the way.

Blessed be the Lord that giveth me hunger at nightfall, And filleth my evening cup with the wine of good cheer. Blessed be the Lord that maketh me happy to be quiet, Even as a child that cometh softly to his mother's lap.

O God, thy strength is never worn away with labour: But it is good for us to be weary and receive thy gift of rest.

THE GREAT CITIES

How wonderful are the cities that man hath builded: Their walls are compacted of heavy stones, And their lofty towers rise above the tree-tops.

Rome, Jerusalem, Cairo, Damascus,— Venice, Constantinople, Moscow, Pekin,— London, New York, Berlin, Paris, Vienna,—

These are the names of mighty enchantments, They have called to the ends of the earth, They have secretly summoned a host of servants.

They shine from far sitting beside great waters, They are proudly enthroned upon high hills, They spread out their splendour along the rivers.

Yet are they all the work of small patient fingers, Their strength is in the hand of man, He hath woven his flesh and blood into their glory.

The cities are scattered over the world like ant-hills, Every one of them is full of trouble and toil, And their makers run to and fro within them. Abundance of riches is laid up in their treasuries, But they are tormented with the fear of want, The cry of the poor in their streets is exceeding bitter.

Their inhabitants are driven by blind perturbations, They whirl sadly in the fever of haste, Seeking they know not what, they pursue it fiercely.

The air is heavy-laden with their breathing,
The sound of their coming and going is never still,
Even in the night I hear them whispering and crying.

Beside every ant-hill I behold a monster crouching: This is the ant-lion Death, He thrusteth forth his tongue and the people perish.

O God of wisdom thou hast made the country: Why hast thou suffered man to make the town?

Then God answered, Surely I am the maker of man: And in the heart of man I have set the city.

THE FRIENDLY TREES

I will sing of the bounty of the big trees, They are the green tents of the Almighty, He hath set them up for comfort and for shelter.

Their cords hath he knotted in the earth, He hath driven their stakes securely, Their roots take hold of the rocks like iron.

He sendeth into their bodies the sap of life, They lift themselves lightly toward the heavens. They rejoice in the broadening of their branches.

Their leaves drink in the sunlight and the air, They talk softly together when the breeze bloweth, Their shadow in the noon-day is full of coolness.

The tall palm-trees of the plain are rich in fruit, While the fruit ripeneth the flower unfoldeth, The beauty of their crown is renewed on high for ever.

The cedars of Lebanon are fed by the snow, Afar on the mountain they grow like giants, In their layers of shade a thousand years are sighing. How fair are the trees that befriend the home of man, The oak, and the terebinth, and the sycamore, The broad-leaved fig-tree and the delicate silvery olive.

In them the Lord is loving to his little birds, The linnets and the finches and the nightingales, They people his pavilions with nests and with music.

The cattle also are very glad of a great tree,

They chew the cud beneath it while the sun is burning,

And there the panting sheep lie down around their shepherd.

He that planteth a tree is a servant of God, He provideth a kindness for many generations, And faces that he hath not seen shall bless him.

Lord, when my spirit shall return to thee, At the foot of a friendly tree let my body be buried, That this dust may rise and rejoice among the branches.

THE BROKEN SWORD

MINE enemies have prevailed against me, O God: Thou hast led me deep into their ambush.

They surround me with a hedge of spears, And the sword in my hand is broken.

My friends also have forsaken my side: From a safe place they look upon me with pity.

My heart is like water poured upon the ground, And I have come alone to the place of surrender.

To thee, to thee only will I give up my sword,— The sword which was broken in thy service.

Thou hast required me to suffer for thy cause: In my defeat thy will is victorious.

O my King, show me thy face shining in the dark, While I drink the loving-cup of death to thy glory.

THE UNSEEN ALTAR

Man the maker of cities is also a builder of altars, He setteth tables for the gods among his habitations.

He bringeth the beauty of the rocks to enrich them: Marble and alabaster, porphyry, jade and jasper.

He cometh with costly gifts to offer an oblation, And with the fairest of his flock to purchase favour.

Around the many altars I hear strange music arising, Loud lamentations and shouting and singing and wailing.

I perceive also the pain and terror of their sacrifices, And the tears and the blood staining the white marble.

O my God, these are the altars of ignorance: They are built by thy children who do not know thee.

Surely thou wilt have pity upon them and teach them: Hast thou not prepared for them a table of peace?

Then the Lord mercifully sent his angel forth to lead me,
And I came through the courts of the temple to the holy of
holies.

Here the multitudes are kneeling in the silence of the spirit, They are kneeling at the unseen altar of the lowly heart.

Here is plentiful forgiveness for the souls that are forgiving, And the benediction falleth upon all who pray in love.

Surely this is the altar where the penitent find pardon: And the priest who stands beside it is the Christ, the Son of God.

THE PATHWAY OF RIVERS

THE rivers of God are full of water, They are wonderful in the renewal of their strength, He poureth them out from a hidden fountain.

They are born among the hills in the high places,
Their cradle is in the bosom of the rocks,
The mountain is their mother and the forest is their father.

They are nourished among the long grasses, They receive the tribute of a thousand springs, The rain and the snow provide their inheritance.

They are glad to be gone from their birthplace, With a joyful noise they hasten away, They are going for ever and never departed.

Yet the courses of the rivers are all appointed: They roar loudly but they follow the road, For the finger of God hath marked their pathway.

The rivers of Damascus rejoice among their gardens: The great river of Egypt is proud of his ships: The Jordan is lost in the Lake of Bitterness. Surely the Lord guideth them every one in his wisdom, In the end he gathereth all their drops on high, And sendeth them forth again in the clouds of mercy.

O my God, my life floweth away like a river: Guide me, I beseech thee, in a pathway of good: Let me run in blessing to my rest in thee.

THE GLORY OF RUINS

THE lizard rested on the rock while I sat among the ruins, And the pride of man was like a vision of the night.

Lo, the lords of the city have disappeared into darkness, The ancient wilderness hath swallowed up all their work.

There is nothing left of the city but a heap of fragments; The bones of a vessel broken by the storm.

Behold the waves of the desert wait hungrily for man's dwellings,

And the tides of desolation return upon his toil.

All that he hath painfully built up is shaken down in a moment, The memory of his glory is buried beneath the billows of sand.

Then a voice said, Look again upon the ruins, These broken arches have taught generations to build.

Moreover the name of this city shall be remembered, For here a poor man spoke a word that shall not die.

This is the glory that is stronger than the desert; God hath given eternity to the thought of man.

THE TRIBE OF THE HELPERS

THE ways of the world are full of haste and turmoil: I will sing of the tribe of the helpers who travel in peace.

He that turneth from the road to rescue another, Turneth toward his goal: He shall arrive in time by the foot-path of mercy, God will be his guide.

He that taketh up the burden of the fainting, Lighteneth his own load: The Almighty will put his arms underneath him, He shall lean upon the Lord.

He that speaketh comfortable words to mourners, Healeth his own hurt: In the time of grief they will come to his remembrance, God will use them for balm.

He that careth for a wounded brother, Watcheth not alone: There are three in the darkness together, And the third is the Lord.

Blessed is the way of the helpers, The companions of the Christ.

THE GOOD TEACHER

THE Lord is my teacher, I shall not lose the way.

He leadeth me in the lowly path of learning, He prepareth a lesson for me every day; He bringeth me to the clear fountains of instruction, Little by little he showeth me the beauty of truth.

The world is a great book that he hath written, He turneth the leaves for me slowly; They are all inscribed with images and letters, He poureth light on the pictures and the words.

He taketh me by the hand to the hill-top of vision, And my soul is glad when I perceive his meaning; In the valley also he walketh beside me, In the dark places he whispereth to my heart.

Even though my lesson be hard it is not hopeless, For the Lord is patient with his slow scholar; He will wait awhile for my weakness, And help me to read the truth through tears.

THE CAMP-FIRES OF MY FRIEND

Thou hast taken me into thy tent of the world, O God, Beneath thy blue canopy I have found shelter, Therefore thou wilt not deny me the right of a guest.

Naked and poor I arrived at thy door before sunset: Thou hast refreshed me with beautiful bowls of milk, As a great chief thou hast set forth food in abundance.

I have loved the daily delights of thy dwelling, Thy moon and thy stars have lighted me to my bed, In the morning I have made merry with thy servants.

Surely thou wilt not send me away in the darkness? There the enemy Death is lying in wait for my soul: Thou art the host of my life and I claim thy protection.

Then the Lord of the tent of the world made answer: The right of a guest endureth for a certain time, After three days and three nights cometh the day of departure.

Yet hearken to me since thou fearest to go in the dark: I will make with thee a new covenant of hospitality, Behold I will come unto thee as a stranger and be thy guest. Poor and needy will I come that thou mayest entertain me, Meek and lowly will I come that thou mayest find a friend, With mercy and with truth will I come to give thee comfort.

Therefore open thy heart to me and bid me welcome, In this tent of the world I will be thy brother of the bread, And when thou farest forth I will be thy companion for ever.

Then my soul rested in the word of the Lord: And I saw that the curtains of the world were shaken, But I looked beyond them to the stars, The camp-fires of my Eternal Friend.

THE HOUSE OF RIMMON DRAMA IN FOUR ACTS

DRAMATIS PERSONÆ

BENHADAD: King of Damascus.

REZON: High Priest of the House of Rimmon.

SABALLIDIN: A Noble.

HAZAEL

IZDUBHAR > Courtiers.

RAKHAZ

SHUMAKIM: The King's Fool.

ELISHA: Prophet of Israel.

NAAMAN: Captain of the Armies of Damascus.

RUAHMAH: A Captive Maid of Israel.

TSARPI: Wife to Naaman.

NUBTA Attendants of Tsarpi.

Soldiers, Servants, Citizens, etc., etc.

Scene: Damascus and the Mountains of Samaria.

TIME: 850 B. C.

ACT I

Scene I

Night, in the garden of Naaman at Damascus. At the left the palace, with softly gleaming lights and music coming from the open latticed windows. The garden is full of oleanders, roses, pomegranates, abundance of crimson flowers; the air is heavy with their fragrance: a fountain at the right is plashing gently: behind it is an arbour covered with vines. Near the centre of the garden stands a small, hideous image of the god Rimmon. Beyond the arbour rises the lofty square tower of the House of Rimmon, which casts a shadow from the moon across the garden. The background is a wide, hilly landscape, with the snow-clad summits of Mount Hermon in the distance. Enter by the palace door, the lady Tsarpi, robed in red and gold, and followed by her maids, Khamma and Nubta. She remains on the terrace: they go down into the garden, looking about, and returning to her.

Кнамма:

There's no one here; the garden is asleep.

NUBTA:

The flowers are nodding, all the birds abed,— Nothing awake except the watchful stars!

Кнамма:

The stars are sentinels discreet and mute: How many things they know and never tell!

TSARPI: [Impatiently.]

Unlike the stars, how many things you tell
And do not know! When comes your master home?

NUBTA:

Lady, his armour-bearer brought us word,—At moonset, not before.

TSARPI:

He haunts the camp

And leaves me much alone; yet I can pass
The time of absence not unhappily,
If I but know the time of his return.
An hour of moonlight yet! Khamma, my mirror!
These curls are ill arranged, this veil too low,—
So,—that is better, careless maids! Withdraw,—
But bring me word if Naaman appears!

Кнамма:

Mistress, have no concern; for when we hear The clatter of his horse along the street, We'll run this way and lead your dancers down With song and laughter,—you shall know in time.

[Exeunt Khamma and Nubta laughing, Tsarpi descends the steps.]

TSARPI:

My guest is late; but he will surely come!
The man who burns to drain the cup of love,—
The priest whose greed of glory never fails,—
Both, both have need of me, and he will come.
And I,—what do I need? Why everything
That helps my beauty to a higher throne;
All that a priest can promise, all a man
Can give, and all a god bestow, I need:
This may a woman win, and this will I.

[Enter Rezon quietly from the shadow of the trees. He stands behind Tsarpi and listens, smiling, to her last words. Then he drops his mantle of leopardskin, and lifts his high priest's rod of bronze, shaped at one end like a star.]

REZON:

Tsarpi!

TSARPI: [Bowing low before him.]

The mistress of the house of Naaman Salutes the master of the House of Rimmon.

REZON:

Rimmon receives you with his star of peace, For you were once a handmaid of his altar.

[He lowers the star-point of the rod, which glows for a moment with rosy light above her head.]

And now the keeper of his temple asks

The welcome of the woman for the man.

TSARPI: [Giving him her hand, but holding off his embrace.]

No more,—till I have heard what brings you here

By night, within the garden of the one

Who scorns you most and fears you least in all

Damascus

REZON:

Trust me, I repay his scorn
With double hatred,—Naaman, the man
Who stands against the nobles and the priests,
This powerful fool, this impious devotee
Of liberty, who loves the people more
Then he reveres the city's ancient god:
This frigid husband who sets you below
His dream of duty to a horde of slaves:
This man I hate, and I will humble him.

TSARPI:

I think I hate him too. He stands apart
From me, ev'n while he holds me in his arms,
By something that I cannot understand.
He swears he loves his wife next to his honour!
Next? That's too low! I will be first or nothing.

REZON:

With me you are the first, the absolute! When you and I have triumphed you shall reign; And you and I will bring this hero down.

TSARPI:

But how? For he is strong.

REZON:

ACT I, SC. I]

By this, the hand

Of Tsarpi; and by this, the rod of Rimmon.

TSARPI:

Your plan?

REZON:

You know the host of Nineveh Is marching now against us. Envoys come To bid us yield before a hopeless war. Our king is weak: the nobles, being rich, Would purchase peace to make them richer still: Only the people and the soldiers, led By Naaman, would fight for liberty. Blind fools! To-day the envoys came to me, And talked with me in secret. Promises. Great promises! For every noble house That urges peace, a noble recompense: The King, submissive, kept in royal state And splendour: most of all, honour and wealth Shall crown the House of Rimmon, and his priest,— Yea, and his priestess! For we two will rise Upon the city's fall. The common folk Shall suffer; Naaman shall sink with them In wreck; but I shall rise, and you shall rise Above me! You shall climb, through incense-smoke, And days of pomp, and nights of revelry,

Unto the topmost room in Rimmon's tower, The secret, lofty room, the couch of bliss, And the divine embraces of the god.

TSARPI: [Throwing out her arms in exultation.]
All, all I wish! What must I do for this?

REZON:

Turn Naaman away from thoughts of war.

TSARPI:

But if I fail? His will is proof against The lure of kisses and the wile of tears.

REZON:

Whe e woman fails, woman and priest succeed. Before the King decides he must consult The oracle of Rimmon. This my hands Prepare,—and you shall read the signs prepared In words of fear to melt the brazen heart Of Naaman.

TSARPI:

But if it flame instead?

REZON:

I know a way to quench that flame. The cup, The parting cup your hand shall give to him! What if the curse of Rimmon should infect That sacred wine with poison, secretly To work within his veins, week after week Corrupting all the currents of his blood, Dimming his eyes, wasting his flesh? What then? Would he prevail in war? Would he come back To glory, or to shame? What think you?

TSARPI:

I?--

I do not think; I only do my part. But can the gods bless this?

REZON:

The gods can bless

Whatever they decree; their will makes right; And this is for the glory of the House Of Rimmon,—and for thee, my queen. Come, come! The night grows dark: we'll perfect our alliance.

[REZON draws her with him, embracing her, through the shadows of the garden. Ruahmah, who has been sleeping in the arbour, has been awakened during the dialogue, and has been dimly visible in her white dress, behind the vines. She parts them and comes out, pushing back her long, dark hair from her temples.]

Ruahman:

What have I heard? O God, what shame is this Plotted beneath Thy pure and silent stars!

Was it for this that I was brought away

A captive from the hills of Israel

To serve the heathen in a land of lies?

Ah, treacherous, shameful priest! Ah, shameless wife

Of one too noble to suspect thy guilt!

The very greatness of his generous heart
Betrays him to their hands. What can I do!
Nothing,—a slave,—hated and mocked by all
My fellow-slaves! O bitter prison-life!
I smother in this black, betraying air
Of lust and luxury; I faint beneath
The shadow of this House of Rimmon. God
Have mercy! Lead me out to Israel.
To Israel!

[Music and laughter heard within the palace. The doors fly open and a flood of men and women, dancers, players, flushed with wine, dishevelled, pour down the steps, Khamma and Nubta with them. They crown the image with roses and dance around it. Ruahmah is discovered crouching beside the arbour. They drag her out beside the image.]

NIIBTA:

Look! Here's the Hebrew maid,-

She's homesick; let us comfort her!

KHAMMA: [They put their arms around her.]

Yes, dancing is the cure for homesickness.

We'll make her dance.

RUAHMAH: [She slips away.]

I pray you, let me go! I cannot dance, I do not know your measures.

Кнамма:

Then sing for us,-a song of Israel!

RUAHMAH:

How can I sing the songs of Israel
In this strange country? O my heart would break!

A SERVANT:

A stubborn and unfriendly maid! We'll whip her.

[They circle around her, striking her with rose-branches; she sinks to her knees, covering her face with her bare arms, which bleed.]

NUBTA:

Look, look! She kneels to Rimmon, she is tamed.

RUAHMAH: [Springing up and lifting her arms.]

Nay, not to this dumb idol, but to Him

Who made Orion and the seven stars!

ALL:

She raves,—she mocks at Rimmon! Punish her!

The fountain! Wash her blasphemy away!

[They push her toward the fountain, laughing and shouting. In the open door of the palace NAAMAN appears, dressed in blue and silver, bareheaded and unarmed. He comes to the top of the steps and stands for a moment, astonished and angry.]

NAAMAN:

Silence! What drunken rout is this? Begone,

Ye barking dogs and mewing cats! Out, all! Poor child, what have they done to thee?

[Exeunt all except Ruahmah, who stands with her face covered by her hands. Naaman comes to her, laying his hand on her shoulder.]

RUAHMAH: [Looking up in his face.]

Nothing,

My lord and master! They have harmed me not.

NAAMAN: [Touching her arm.]

Dost call this nothing?

Ruahmah:

Since my lord is come!

NAAMAN:

I do not know thy face, -who art thou, child?

Ruahman:

The handmaid of thy wife.

NAAMAN:

Whence comest thou?

Thy voice is like thy mistress, but thy looks Have something foreign. Tell thy name, thy land.

Ruahmah:

Ruahmah is my name, a captive maid, The daughter of a prince in Israel,— Where once, in olden days, I saw my lord Ride through our highlands, when Samaria Was allied with Damascus to defeat Our common foe. NAAMAN:

And thou rememberest this?

RUAHMAH:

As clear as yesterday! Master, I saw
Thee riding on a snow-white horse beside
Our king; and all we joyful little maids
Strewed boughs of palm along the victors' way;
For you had driven out the enemy,
Broken; and both our lands were friends and free.

NAAMAN: [Sadly.]

Well, they are past, those noble days! The days
When nations would imperil all to keep
Their liberties, are only memories now.
The common cause is lost,—and thou art brought,
The captive of some mercenary raid,
Some skirmish of a gold-begotten war,
To serve within my house. Dost thou fare well?

Rпанман:

Master, thou seest.

NAAMAN:

Yes, I see! My child,

Why do they hate thee so?

Ruahmah:

I do not know,

Unless because I will not bow to Rimmon.

NAAMAN:

Thou needest not. I fear he is a god Who pities not his people, will not save. My heart is sick with doubt of him. But thou Shalt hold thy faith,—I care not what it is,—Worship thy god; but keep thy spirit free.

[He takes the amulet from his neck and gives it to her.]
Here, take this chain and wear it with my seal,
None shall molest the maid who carries this.
Thou hast found favour in thy master's eyes;
Hast thou no other gift to ask of me?

RUAHMAH: [Earnestly.]

My lord, I do entreat thee not to go To-morrow to the council. Seek the King And speak with him in secret; but avoid The audience-hall.

NAAMAN:

Why, what is this? Thy wits

Are wandering. My honour is engaged To speak for war, to lead in war against The Assyrian Bull and save Damascus.

Ruahmah: [With confused earnestness.]

Then, lord, if thou must go, I pray thee speak,—I know not how,—but so that all must hear.
With magic of unanswerable words
Persuade thy foes. Yet watch,—beware,—

NAAMAN:

Of what?

RUAHMAH: [Turning aside.]

I am entangled in my speech,—no light,— How shall I tell him? He will not believe. O my dear lord, thine enemies are they Of thine own house. I pray thee to beware,— Beware,—of Rimmon!

NAAMAN:

Child, thy words are wild; Thy troubles have bewildered all thy brain. Go, now, and fret no more; but sleep, and dream Of Israel! For thou shalt see thy home Among the hills again.

Rианман:

Master, good-night.

And may thy slumber be as sweet and deep
As if thou camped at snowy Hermon's foot,
Amid the music of his waterfalls.
There friendly oak-trees bend their boughs above
The weary head, pillowed on earth's kind breast,
And unpolluted breezes lightly breathe
A song of sleep among the murmuring leaves.
There the big stars draw nearer, and the sun
Looks forth serene, undimmed by city's mirk
Or smoke of idol-temples, to behold

The waking wonder of the wide-spread world. There life renews itself with every morn
In purest joy of living. May the Lord
Deliver thee, dear master, from the nets
Laid for thy feet, and lead thee out, along
The open path, beneath the open sky!

[Exit RUAHMAH: NAAMAN stands looking after her.]

Scene II

TIME: The following morning.

The audience-hall in Benhadad's palace. The sides of the hall are lined with lofty columns: the back opens toward the city, with descending steps: the House of Rimmon with its high tower is seen in the background. The throne is at the right in front: opposite is the royal door of entrance, guarded by four tall sentinels. Enter at the rear between the columns, Rakhaz, Saballidin, Hazael, Izdubhar.

IZDUBHAR: [An excited old man.]

The city is all in a turmoil. It boils like a pot of lentils.

The people are foaming and bubbling round and round like beans in the pottage.

HAZAEL: [A lean, crafty man.]
Fear is a hot fire.

RAKHAZ: [A fat, pompous man.]

Well may they fear, for the Assyrians are not three days distant. They are blazing along like a waterspout to chop Damascus down like a pitcher of spilt milk.

SABALLIDIN: [Young and frank.]

Cannot Naaman drive them back?

RAKHAZ: [Puffing and blowing.]

Ho! Naaman? Where have you been living? Naaman is a broken reed whose claws have been cut. Build no hopes on that foundation, for it will run away and leave you all adrift in the conflagration.

SABALLIDIN:

He clatters like a windmill. What would he say, Hazael? HAZAEL:

Naaman can do nothing without the command of the King; and the King fears to order the army to march without the approval of the gods. The High Priest is against it. The House of Rimmon is for peace with Asshur.

RAKHAZ:

Yes, and all the nobles are for peace. We are the men whose wisdom lights the rudder that upholds the chariot of state. Would we be rich if we were not wise? Do we not know better than the rabble what medicine will silence this fire that threatens to drown us?

IZDUBHAR:

But if the Assyrians come, we shall all perish; they will despoil us all.

HAZAEL:

Not us, my lord, only the common people. The envoys have offered favourable terms to the priests, and the nobles, and the King. No palace, no temple, shall be plundered. Only the shops, and the markets, and the houses of the multitude shall be given up to the Bull. He will eat his supper from the pot of lentils, not from our golden plate.

RAKHAZ:

Yes, and all who speak for peace in the council shall be enriched; our heads shall be crowned with seats of honour in the procession of the Assyrian king. He needs wise counsellors to help him guide the ship of empire onto the solid rock of prosperity. You must be with us, my lords Izdubhar and Saballidin, and let the stars of your wisdom roar loudly for peace.

IZDUBHAR:

He talks like a tablet read upside down,—a wild ass braying in the wilderness. Yet there is policy in his words.

SABALLIDIN:

I know not. Can a kingdom live without a people or an army? If we let the Bull in to sup on the lentils, will he not make his breakfast in our vineyards?

[Enter other courtiers following Shumakim, a hump-backed jester, in blue, green and red, a wreath of poppies around his neck and a flagon in his hand. He walks unsteadily, and stutters in his speech.]

HAZAEL:

Here is Shumakim, the King's fool, with his legs full of last night's wine.

SHUMAKIM: [Balancing himself in front of them and chuckling.]
Wrong, my lords, very wrong! This is not last night's wine,
but a draught the King's physician gave me this morning
for a cure. It sobers me amazingly! I know you all,
my lords: any fool would know you. You, master, are
a statesman; and you are a politician; and you are a
patriot.

RAKHAZ:

Am I a statesman? I felt something of the kind about me. But what is a statesman?

SHUMAKIM:

A politician that is stuffed with big words; a fat man in a mask; one that plays a solemn tune on a sackbut full o' wind.

HAZAEL:

And what is a politician?

SHUMAKIM:

A statesman that has dropped his mask and cracked his sackbut. Men trust him for what he is, and he never deceives them, because he always lies.

IZDUBHAR:

Why do you call me a patriot?

SHUMAKIM:

Because you know what is good for you; you love your country as you love your pelf. You feel for the common people,—as the wolf feels for the sheep.

SABALLIDIN:

And what am I?

SHUMAKIM:

A fool, master, just a plain fool; and there is hope of thee for that reason. Embrace me, brother, and taste this; but not too much,—it will intoxicate thee with sobriety.

[The hall has been slowly filling with courtiers and soldiers; a crowd of people begin to come up the steps at the rear, where they are halt d by a chain guarded by servants of the palace. A bell tolls; the royal door is thrown open; the aged King totters across the hall and takes his seat on the throne with the four tall sentinels standing behind him. All bow down shading their eyes with their hands.]

BENHADAD:

The hour of royal audience is come.

I'll hear the envoys. Are my counsellors

At hand? Where are the priests of Rimmon's house?

[Gongs sound. REZON comes in from the side, followed by a procession of priests in black and yellow. The courtiers bow; the King rises; REZON takes his stand on the steps of the throne at the left of the King.]

BENHADAD:

Where is my faithful servant Naaman, The captain of my host?

[Trumpets sound from the city. The crowd on the steps divide; the chain is lowered; NAAMAN enters, followed by six soldiers. He is dressed in chain-mail with a silver helmet and a cloak of blue. He uncovers, and kneels on the steps of the throne at the King's right.]

NAAMAN:

My lord the King,

The bearer of thy sword is here.

BENHADAD: [Giving NAAMAN his hand, and sitting down.] Welcome,

My strong right arm that never me failed yet!

I am in doubt,—but stay thou close to me

While I decide this cause. Where are the envoys?

Let them appear and give their message.

[Enter the Assyrian envoys; one in white and the other in red; both with the golden Bull's head embroidered on their robes. They come from the right, rear, bow slightly before the throne, and take the centre of the hall.]

WHITE ENVOY: [Stepping forward.]

Greeting from Shalmaneser, Asshur's son, Who rules the world from Nineveh Unto Benhadad, monarch in Damascus!
The conquering Bull has led his army forth;
The south has fallen before him, and the west
His feet have trodden; Hamath is laid waste;
He pauses at your gate, invincible,—
To offer peace. The princes of your court,
The priests of Rimmon's house, and you, the King,
If you pay homage to your Overlord,
Shall rest secure, and flourish as our friends.
Assyria sends to you this gilded yoke;
Receive it as the sign of proffered peace.

[He lays a yoke on the steps of the throne.]

BENHADAD:

What of the city? Said your king no word Of our Damascus, and the many folk That do inhabit her and make her great? What of the soldiers who have fought for us?

WHITE ENVOY:

Of these my royal master did not speak.

BENHADAD:

Strange silence! Must we give them up to him? Is this the price at which he offers us
The yoke of peace? What if we do refuse?

RED ENVOY: [Stepping forward.]

Then ruthless war! War to the uttermost. No quarter, no compassion, no escape!

The Bull will gore and trample in his fury
Nobles and priests and king,—none shall be spared!
Before the throne we lay our second gift;

This bloody horn, the symbol of red war.

[He lays a long bull's horn, stained with blood, on the steps of the throne.]

WHITE ENVOY:

Our message is delivered. We return
Unto our master. He will wait three days
To know your royal choice between his gifts.
Keep which you will and send the other back.
The red bull's horn your youngest page may bring;
But with the yoke, best send your mightiest army!

[The Envoys retire, amid confused murmurs of the

[The Envoys retire, amid confused murmurs of the people, the King silent, his head, sunken on his breast.]

BENHADAD:

Proud words, a bitter message, hard to endure!
We are not now that force which feared no foe:
Our old allies have left us. Can we face the Bull
Alone, and beat him back? Give me your counsel.

[Many speak at once, confusedly.]

What babblement is this? Were ye born at Babel? Give me clear words and reasonable speech.

RAKHAZ: [Pompously.]

O King, I am a reasonable man!

And there be some who call me very wise

And prudent; but of this I will not speak,
For I am also modest. Let me plead,
Persuade, and reason you to choose for peace.
This golden yoke may be a bitter draught,
But better far to fold it in our arms,
Than risk our cargoes in the savage horn
Of war. Shall we imperil all our wealth,
Our valuable lives? Nobles are few,
Rich men are rare, and wise men rarer still;
The precious jewels on the tree of life,
Wherein the common people are but bricks
And clay and rubble. Let the city go,
But save the corner-stones that float the ship!
Have I not spoken well?

BENHADAD: [Shaking his head.]

Excellent well!

Most eloquent! But misty in the meaning.

HAZAEL: [With cold decision.]

Then let me speak, O King, in plainer words! The days of independent states are past:
The tide of empire sweeps across the earth;
Assyria rides it with resistless power
And thunders on to subjugate the world.
Oppose her, and we fight with Destiny;
Submit to her demands, and we shall ride
With her to victory. Therefore accept
The golden yoke, Assyria's gift of peace.

NAAMAN: [Starting forward eagerly.]

There is no peace beneath a conqueror's yoke! For every state that barters liberty To win imperial favour, shall be drained Of her best blood, henceforth, in endless wars To make the empire greater. Here's the choice, My King, we fight to keep our country free, Or else we fight forevermore to help Assyria bind the world as we are bound. I am a soldier, and I know the hell Of war! But I will gladly ride through hell To save Damascus. Master, bid me ride! Ten thousand chariots wait for your command; And twenty thousand horsemen strain the leash Of patience till you let them go; a throng Of spearmen, archers, swordsmen, like the sea Chafing against a dike, roar for the onset! O master, let me launch your mighty host Against the Bull,—we'll bring him to his knees!

[Cries of "war!" from the soldiers and the people; "peace!" from the courtiers and the priests. The King rises, turning toward NAAMAN, and seems about to speak. REZON lifts his rod.]

REZON:

Shall not the gods decide when mortals doubt? Rimmon is master of the city's fate;

We read his will, by our most ancient-faith, In omens and in signs of mystery. Must we not hearken to his high commands?

Benhadad: [Sinking back on the throne, submissively.]

I am the faithful son of Rimmon's House.

Consult the oracle. But who shall read?

REZON:

Tsarpi, the wife of Naaman, who served Within the temple in her maiden years, Shall be the mouth-piece of the mighty god, To-day's high-priestess. Bring the sacrifice!

[Gongs and cymbals sound: enter priests carrying an altar on which a lamb is bound. The altar is placed in the centre of the hall. Tsarpi follows the priests, covered with a long transparent veil of black, sown with gold stars; Ruahmah, in white, bears her train. Tsarpi stands before the altar, facing it, and lifts her right hand holding a knife. Ruahmah steps back, near the throne, her hands crossed on her breast, her head bowed. The priests close in around Tsarpi and the altar. The knife is seen to strike downward. Gongs and cymbals sound: cries of "Rimmon, hear us!" The circle of priests opens, and Tsarpi turns slowly to face the King.]

TSARPI: [Monotonously.]

Black is the blood of the victim,
Rimmon is unfavourable,
Asratu is unfavourable;
They will not war against Asshur,
They will make a league with the God of Nineveh.
Evil is in store for Damascus,
A strong enemy will lay waste the land.
Therefore make peace with the Bull;
Hearken to the voice of Rimmon.

[She turns again to the altar, and the priests close in around her. Rezon lifts his rod toward the tower of the temple. A flash of lightning followed by thunder; smoke rises from the altar; all except NAAMAN and RUAHMAH cover their faces. The circle of priests opens again, and TSARPI comes forward slowly, chanting.]

CHANT:

Hear the words of Rimmon! Thus your Maker speaketh:

I, the god of thunder, riding on the whirlwind,

I, the god of lightning leaping from the storm-cloud,

I will smite with vengeance him who dares defy me!

He who leads Damascus into war with Asshur,

Conquering or conquered, bears my curse upon him.

Surely shall my arrow strike his heart in secret,

Burn his flesh with fever, turn his blood to poison, Brand him with corruption, drive him into darkness; He shall surely perish by the doom of Rimmon.

[All are terrified and look toward NAAMAN, shuddering. Ruahmah alone seems not to heed the curse, but stands with her eyes fixed on NAAMAN.]

RUAHMAH:

Be not afraid! There is a greater God Shall cover thee with His almighty wings: Beneath his shield and buckler shalt thou trust.

BENHADAD:

Repent, my son, thou must not brave this curse.

My King, there is no curse as terrible
As that which lights a bosom-fire for him
Who gives away his honour, to prolong
A craven life whose every breath is shame!
If I betray the men who follow me,
The city that has put her trust in me,
What king can shield me from my own deep scorn
What god release me from that self-made hell?
The tender mercies of Assyria
I know; and they are cruel as creeping tigers.
Give up Damascus, and her streets will run
Rivers of innocent blood; the city's heart,
That mighty, labouring heart, wounded and crushed

Beneath the brutal hooves of the wild Bull, Will cry against her captain, sitting safe Among the nobles, in some pleasant place. I shall be safe,—safe from the threatened wrath Of unknown gods, but damned forever by The men I know,—that is the curse I fear.

BENHADAD:

Speak not so high, my son. Must we not bow Our heads before the sovereignties of heaven? The unseen rulers are Divine.

NAAMAN:

O King,

I am unlearned in the lore of priests;
Yet well I know that there are hidden powers
About us, working mortal weal and woe
Beyond the force of mortals to control.
And if these powers appear in love and truth,
I think they must be gods, and worship them.
But if their secret will is manifest
In blind decrees of sheer omnipotence,
That punish where no fault is found, and smite
The poor with undeserved calamity,
And pierce the undefended in the dark
With arrows of injustice, and foredoom
The innocent to burn in endless pain,
I will not call this fierce almightiness
Divine. Though I must bear, with every man,

The burden of my life ordained, I'll keep My soul unterrified, and tread the path Of truth and honour with a steady heart! Have ye not heard, my lords? The oracle Proclaims to me, to me alone, the doom Of vengeance if I lead the army out. "Conquered or conquering!" I grip that chance! Damascus free, her foes all beaten back, The people saved from slavery, the King Upheld in honour on his ancient throne,— O what's the cost of this? I'll gladly pay Whatever gods there be, whatever price They ask for this one victory. Give me This gilded sign of shame to carry back; I'll shake it in the face of Asshur's king, And break it on his teeth.

BENHADAD: [Rising.]

Then go, my never-beaten captain, go! And may the powers that hear thy solemn vow Forgive thy rashness for Damascus' sake, Prosper thy fighting, and remit thy pledge.

REZON: [Standing beside the altar.]

The pledge, O King, this man must seal his pledge At Rimmon's altar. He must take the cup Of soldier-sacrament, and bind himself By thrice-performed libation to abide The fate he has invoked.

NAAMAN: [Slowly.]

And so I will.

[He comes down the steps, toward the altar, where REZON is filling the cup which TSARPI holds. RUAHMAH throws herself before NAAMAN, clasping his knees.]

Ruahmah: [Passionately and wildly.]

My lord, I do beseech you, stay! There's death
Within that cup. It is an offering
To devils. See, the wine blazes like fire,
It flows like blood, it is a cursed cup,
Fulfilled of treachery and hate.
Dear master, noble master, touch it not!

NAAMAN:

Poor maid, thy brain is still distraught. Fear not,
But let me go! Here, treat her tenderly!

[Gives her into the hands of SABALLIDIN.]
Can harm befall me from the wife who bears
My name? I take the cup of fate from her.
I greet the unknown powers; [Pours libation.]
I will perform my vow; [Again.]
I will abide my fate; [Again.]
I pledge my life to keep Damascus free.

[He drains the cup, and lets it fall.]

CURTAIN.

ACT II

TIME: A week later.

The fore-court of the House of Rimmon. At the back the broad steps and double doors of the shrine: above them the tower of the god, its summit invisible. Enter various groups of citizens, talking laughing, shouting: RAKHAZ, HAZAEL, SHUMAKIM and others.

FIRST CITIZEN:

Great news, glorious news, the Assyrians are beaten!

SECOND CITIZEN:

Naaman is returning, crowned with victory. Glory to our noble captain!

THIRD CITIZEN:

No, he is killed. I had it from one of the camp-followers who saw him fall at the head of the battle. They are bringing his body to bury it with honour. O sorrowful victory!

RAKHAZ:

Peace, my good fellows, you are ignorant, you have not been rightly informed, I will misinform you. The accounts of Naaman's death are overdrawn. He was killed, but his life has been preserved. One of his wounds was mortal, but the other three were curable, and by these the physicians have saved him.

SHUMAKIM: [Balancing himself before RAKHAZ in pretended admiration.]

O wonderful! Most admirable logic! One mortal, and three curable, therefore he must recover as it were, by three to one. Rakhaz, do you know that you are a marvelous man?

RAKHAZ:

Yes, I know it, but I make no boast of my knowledge. Shumakim:

Too modest, for in knowing this you know more than any other in Damascus!

[Enter, from the right, Saballidin in armour: from the left, Tsarpi with her attendants, among whom is Ruahmah.]

HAZAEL:

Here is Saballidin, we'll question him;
He was enflamed by Naaman's wild words,
And rode with him to battle. Give us news,
Of your great captain! Is he safe and well?
When will he come? Or will he come at all?
[All gather around him listening eagerly.]

SABALLIDIN:

He comes but now, returning from the field Where he hath gained a crown of deathless fame!

Three times he led the charge; three times he fell Wounded, and the Assyrians beat us back. Yet every wound was but a spur to urge. His valour onward. In the last attack He rode before us as the crested wave That leads the flood; and lo, our enemies Were broken like a dam of river-reeds. The flying King encircled by his guard Was lodged like driftwood on a little hill. Then Naaman, who led our foremost band Of whirlwind riders, hammered through the hedge Of spearmen, brandishing the golden voke. "Take back this gift," he cried; and shattered it On Shalmaneser's helmet. So the fight Dissolved in universal rout; the King, His chariots and his horsemen fled away: Our captain stood the master of the field, And saviour of Damascus! Now he brings. First to the King, report of this great triumph.

[Shouts of joy and applause.]

RUAHMAH: [Coming close to SABALLIDIN.]

But what of him who won it? Fares he well? My mistress would receive some word of him.

SABALLIDIN:

Hath she not heard?

RUAHMAH:

But one brief message came:

A letter saying, "We have fought and conquered,"

No word of his own person. Fares he well?

SABALLIDIN:

Alas, most ill! For he is like a man
Consumed by some strange sickness: wasted, wan,—
His eyes are dimmed so that he scarce can see;
His ears are dulled; his fearless face is pale
As one who walks to meet a certain doom
Yet will not flinch. It is most pitiful,—
But you shall see.

Ruahmah:

Yea, we shall see a man Who dared to face the wrath of evil powers Unknown, and hazard all to save his country.

[Enter Benhadad with courtiers.]

BENHADAD:

Where is my faithful servant Naaman, The captain of my host?

SABALLIDIN:

My lord, he comes.

[Trumpet sounds. Enter company of soldiers in armour. Then four soldiers bearing captured standards of Asshur. NAAMAN follows, very pale, armour dinted and stained; he is blind, and guides himself

by cords from the standards on each side, but walks firmly. The doors of the temple open slightly, and REZON appears at the top of the steps. NAAMAN lets the cords fall, and gropes his way for a few paces.]

NAAMAN: [Kneeling.]

Where is my King?

Master, the bearer of thy sword returns.

The golden yoke thou gavest me I broke
On him who sent it. Asshur's Bull hath fled
Dehorned. The standards of his host are thine!
Damascus is all thine, at peace, and free!

BENHADAD: [Holding out his arms.]

Thou art a mighty man of valour! -Come, And let me fold thy courage to my heart.

REZON: [Lifting his rod.]

Forbear, O King! Stand back from him, all men! By the great name of Rimmon I proclaim
This man a leper! See, upon his brow,
This little mark, the death-white seal of doom!
That tiny spot will spread, eating his flesh,
Gnawing his fingers bone from bone, until
The impious heart that dared defy the gods
Dissolves in the slow death which now begins.
Unclean! unclean! Henceforward he is dead:
No human hand shall touch him, and no home
Of men shall give him shelter. He shall walk

Only with corpses of the selfsame death Down the long path to a forgotten tomb. Avoid, depart, I do adjure you all, Leave him to god,—the leper Naaman!

[All shrink back horrified. Rezon retires into the temple; the crowd melts away, wailing: Tsarpi is among the first to go, followed by her attendants, except Ruahmah, who crouches, with her face covered, not far from Naaman.]

Benhadad: [Lingering and turning back.]

Alas, my son! O Naaman, my son!

Why did I let thee go? I must obey.

Who can resist the gods? Yet none shall take
Thy glorious title, captain of my host!

I will provide for thee, and thou shalt dwell

With guards of honour in a house of mine
Always. Damascus never shall forget

What thou hast done! O miserable words
Of crowned impotence! O mockery of power
Given to kings who cannot even defend
Their dearest from the secret wrath of heaven!
O Naaman, my son, my son! [Exit.]

NAAMAN: [Slowly, passing his hand over his eyes, and looking up.]

Am I alone

With thee, inexorable one, whose pride

Offended takes this horrible revenge?

I must submit my mortal flesh to thee,
Almighty, but I will not call thee god!

Yet thou hast found the way to wound my soul
Most deeply through the flesh; and I must find
The way to let my wounded soul escape!

[Drawing his sword.]

Come, my last friend, thou art more merciful Than Rimmon. Why should I endure the doom He sends me? Irretrievably cut off From all dear intercourse of human love, From all the tender touch of human hands, From all brave comradeship with brother-men, With eyes that see no faces through this dark, With ears that hear all voices far away, Why should I cling to misery, and grope My long, long way from pain to pain, alone?

RUAHMAH: [At his feet.]

Nay, not alone, dear lord, for I am here; And I will never leave thee, nor forsake thee!

NAAMAN:

What voice is that? The silence of my tomb Is broken by a ray of music,—whose?

RUAHMAH: [Rising.]

The one who loves thee best in all the world.

NAAMAN:

Why that should be,—O dare I dream it true? Tsarpi, my wife? Have I misjudged thy heart As cold and proud? How nobly thou forgivest! Thou com'st to hold me from the last disgrace,—The coward's flight into the dark. Go back Unstained, my sword! Life is endurable While there is one alive on earth who loves us.

RUAHMAH:

My lord,—my lord,—O listen! You have erred,—You do mistake me now,—this dream—

NAAMAN:

Ah, wake me not! For I can conquer death Dreaming this dream. Let me at last believe, Though gods are cruel, a woman can be kind. Grant me but this! For see,—I ask so little,—Only to know that thou art faithful, That thou art near me, though I touch thee not,—O this will hold me up, though it be given From pity more than love.

Ruahmah: [Trembling, and speaking slowly.]

Not so, my lord!

My pity is a stream; my pride of thee
Is like the sea that doth engulf the stream;
My love for thee is like the sovereign moon
That rules the sea. The tides that fill my soul
Flow unto thee and follow after thee;

And where thou goest I will go; and where Thou diest I will die,—in the same hour.

[She lays her hand on his arm. He draws back.]

NAAMAN:

O touch me not! Thou shalt not share my doom. Ruahmah:

Entreat me not to go. I will obey
In all but this; but rob me not of this,—
The only boon that makes life worth the living,—
To walk beside thee day by day, and keep
Thy foot from stumbling; to prepare thy food
When thou art hungry, music for thy rest,
And cheerful words to comfort thy black hour;
And so to lead thee ever on, and on,
Through darkness, till we find the door of hope.

NAAMAN:

What word is that? The leper has no hope. Ruahmah:

Dear lord, the mark upon thy brow is yet

No broader than my little finger-nail.

Thy force is not abated, and thy step
Is firm. Wilt thou surrender to the enemy
Before thy strength is touched? Why, let me put
A drop of courage from my breast in thine!

There is a hope for thee. The captive maid
Of Israel who dwelt within thy house
Knew of a god very compassionate,

Long-suffering, slow to anger, one who heals
The sick, hath pity on the fatherless,
And saves the poor and him who has no helper.
His prophet dwells nigh to Samaria;
And I have heard that he hath brought the dead
To life again. We'll go to him. The King,
If I beseech him, will appoint a guard
Of thine own soldiers and Saballidin,
Thy friend, to convoy us upon our journey.
He'll give us royal letters to the King
Of Israel to make our welcome sure;
And we will take the open road, beneath
The open sky, to-morrow, and go on
Together till we find the door of hope.
Come, come with me!

[She grasps his hand.]
NAAMAN: [Drawing back.]

Thou must not touch me!

RUAHMAH: [Unclasping her girdle and putting the end in his hand.]

Take my girdle, then!

NAAMAN: [Kissing the clasp of the girdle.]

I do begin to think there is a God,
Since love on earth can work such miracles!

CURTAIN

ACT III

TIME: A month later: dawn

Scene I

NAAMAN'S tent, on high ground among the mountains near Samaria: the city below. In the distance, a wide and splendid landscape. Saballidin and soldiers on guard below the tent. Enter Ruahmah in hunter's dress, with a lute slung from her shoulder.

RUAHMAH:

Peace and good health to you, Saballidin. Good morrow to you all. How fares my lord?

SABALLIDIN:

The curtains of his tent are folded still: They have not moved since we returned, last night, And told him what befell us in the city.

RUAHMAH:

Told him! Why did you make report to him And not to me? Am I not captain here, Intrusted by the King's command with care Of Naaman until he is restored? 'Tis mine to know the first of good or ill

In this adventure: mine to shield his heart From every arrow of adversity. What have you told him? Speak!

SABALLIDIN:

Lady, we feared

To bring our news to you. For when the King Of Israel had read our monarch's letter, He rent his clothes, and cried, "Am I a god, To kill and make alive, that I should heal A leper? Ye have come with false pretence, Damascus seeks a quarrel with me. Go!" But when we told our lord, he closed his tent, And there remains enfolded in his grief. I trust he sleeps; 't were kind to let him sleep! For now he doth forget his misery, And all the burden of his hopeless woe Is lifted from him by the gentle hand Of slumber. Oh, to those bereft of hope Sleep is the only blessing left,—the last Asylum of the weary, the one sign Of pity from impenetrable heaven. Waking is strife; sleep is the truce of God! Ah, lady, wake him not. The day will be Full long for him to suffer, and for us To turn our disappointed faces home On the long road by which we must return.

RUAHMAH:

Return! Who gave you that command? Not I! The King made me the leader of this quest, And bound you all to follow me, because He knew I never would return without The thing for which he sent us. I'll go on Day after day, unto the uttermost parts Of earth, if need be, and beyond the gates Of morning, till I find that which I seek,-New life for Naaman. Are ye ashamed To have a woman lead you? Then go back And tell the King, "This huntress went too far For us to follow: she pursues the trail Of hope alone, refusing to forsake The quarry: we grew weary of the chase; And so we left her and retraced our steps, Like faithless hounds, to sleep beside the fire." Did Naaman forsake his soldiers thus When you went forth to hunt the Assyrian Bull? Your manly courage is less durable Than woman's love, it seems. Go, if you will,-Who bids me now farewell?

SOLDIERS:

Not I, not I!

SABALLIDIN:

Lady, lead on, we'll follow you forever!

RUAHMAH:

Why, now you speak like men! Brought you no word Out of Samaria, except that cry
Of impotence and fear from Israel's King?

SABALLIDIN:

I do remember while he spoke with us A rustic messenger came in, and cried "Elisha saith, bring Naaman to me At Dothan, he shall surely know there is A God in Israel."

RHAHMAH:

What said the King?

SABALLIDIN:

He only shouted "Go!" more wildly yet, And rent his clothes again, as if he were Half-maddened by a coward's fear, and thought Only of how he might be rid of us. What comfort could there be for him, what hope For us, in the rude prophet's misty word?

RUAHMAH:

It is the very word for which I prayed!

My trust was not in princes; for the crown,
The sceptre, and the purple robe are not
Significant of vital power. The man
Who saves his brother-men is he who lives
His life with Nature, takes deep hold on truth,

And trusts in God. A prophet's word is more Than all the kings on earth can speak. How far Is Dothan?

SOLDIER:

Lady, 'tis but three hours' ride

Along the valley southward.

RUAHMAH:

Near! so near?

I had not thought to end my task so soon! Prepare yourselves with speed to take the road. I will awake my lord.

[Exeunt all but Saballidin and Ruahmah. She goes toward the tent.]

SABALLIDIN:

Ruahmah, stay! [She turns back.]

I've been your servant in this doubtful quest, Obedient, faithful, loyal to your will,— What have I earned by this?

Ruahman:

The gratitude

Of him we both desire to serve: your friend,—My master and my lord.

SABALLIDIN:

No more than this?

Ruahmah:

Yes, if you will, take all the thanks my hands Can hold, my lips can speak.

SABALLIDIN:

I would have more.

RUAHMAH:

My friend, there's nothing more to give to you.

My service to my lord is absolute.

There's not a drop of blood within my veins

But quickens at the very thought of him;

And not a dream of mine but he doth stand

Within its heart and make it bright. No man

To me is other than his friend or foe.

You are his friend, and I believe you true!

Saballidin:

I have been true to him,—now, I am true To you.

RUAHMAH:

Why, then, be doubly true to him!

O let us match our loyalties, and strive
Between us who shall win the higher crown!
Men boast them of a friendship stronger far
Than love of woman. Prove it! I'll not boast,
But I'll contend with you on equal terms
In this brave race: and if you win the prize
I'll hold you next to him: and if I win
He'll hold you next to me; and either way
We'll not be far apart. Do you accept
My challenge?

SABALLIDIN:

Yes! For you enforce my heart
By honour to resign its great desire,
And love itself to offer sacrifice
Of all disloyal dreams on its own altar.
Yet love remains; therefore I pray you, think
How surely you must lose in our contention.
For I am known to Naaman: but you
He blindly takes for Tsarpi. 'Tis to her
He gives his gratitude: the praise you win
Endears her name

RUAHMAH:

Her name? Why, what is that?

A name is but an empty shell, a mask
That does not change the features of the face
Beneath it. Can a name rejoice, or weep,
Or hope? Can it be moved by tenderness
To daily services of love, or feel the warmth
Of dear companionship? How many things
We call by names that have no meaning! Kings
That cannot rule; and gods that are not good;
And wives that do not love! It matters not
What syllables he utters when he calls,
'Tis I who come,—'tis I who minister
Unto my lord, and mine the living heart
That feels the comfort of his confidence,

The thrill of gladness when he speaks to me,—
I do not hear the name!

SABALLIDIN:

And yet, be sure

There's danger in this error,—and no gain! Ruahmah:

I seek no gain: I only tread the path
Marked for me daily by the hand of love.
And if his blindness spared my lord one pang
Of sorrow in his black, forsaken hour,—
And if this error makes his burdened heart
More quiet, and his shadowed way less dark,
Whom do I rob? Not her who chose to stay
At ease in Rimmon's House! Surely not him!
Only myself! And that enriches me.
Why trouble we the master? Let it go,—
To-morrow he must know the truth,—and then
He shall dispose of me e'en as he will!

SABALLIDIN:

To-morrow?

Ruahmah:

Yes, for I will tarry here,

While you conduct him to Elisha's house To find the promised healing. I forebode A sudden danger from the craven King Of Israel, or else a secret ambush From those who hate us in Damascus. Go, But leave me twenty men: this mountain-pass Protects the road behind you. Make my lord Obey the prophet's word, whatever he commands, And come again in peace. Farewell!

[Exit Saballidin. Ruahmah goes toward the tent, then pauses and turns back. She takes her lute and sings.]

Song

Above the edge of dark appear the lances of the sun;
Along the mountain-ridges clear his rosy heralds run;
The vapours down the valley go
Like broken armies, dark and low.
Look up, my heart, from every hill
In folds of rose and daffodil
The sunrise banners flow.

O fly away on silent wing, ye boding owls of night!

O welcome little birds that sing the coming-in of light!

For new, and new, and ever-new,

The golden bud within the blue;

And every morning seems to say:

"There's something happy on the way,

"And God sends love to you!"

NAAMAN: [Appearing at the entrance of his tent.]

O let me ever wake to music! For the soul
Returns most gently then, and finds its way
By the soft, winding clue of melody,
Out of the dusky labyrinth of sleep,
Into the light. My body feels the sun
Though I behold naught that his rays reveal.
Come, thou who art my daydawn and my sight,
Sweet eyes, come close, and make the sunrise mine!

Ruahmah: [Coming near.]

A fairer day, dear lord, was never born In Paradise! The sapphire cup of heaven Is filled with golden wine: the earth, adorned With jewel-drops of dew, unveils her face A joyful bride, in welcome to her king. And look! He leaps upon the Eastern hills All ruddy fire, and claims her with a kiss. Yonder the snowy peaks of Hermon float Unmoving as a wind-dropt cloud. The gulf Of Jordan, filled with violet haze, conceals The river's winding trail with wreaths of mist. Below us, marble-crowned Samaria thrones Upon her emerald hill amid the Vale Of Barley, while the plains to northward change Their colour like the shimmering necks of doves. The lark springs up, with morning on her wings, To climb her singing stairway in the blue, And all the fields are sprinkled with her joy!

NAAMAN:

Thy voice is magical: thy words are visions!

I must content myself with them, for now
My only hope is lost: Samaria's King
Rejects our monarch's message,—hast thou heard?

"Am I a god that I should cure a leper?"
He sends me home unhealed, with angry words,
Back to Damascus and the lingering death.

RUAHMAH:

What matter where he sends? No god is he To slay or make alive. Elisha bids You come to him at Dothan, there to learn There is a God in Israel.

NAAMAN:

I fear

That I am grown mistrustful of all gods; Their secret counsels are implacable.

Ruahmah:

Fear not! There's One who rules in righteousness High over all.

NAAMAN:

What knowest thou of Him?

RUAHMAH:

Oh, I have heard,—the maid of Israel,—
Rememberest thou? She often said her God

Was merciful and kind, and slow to wrath, And plenteous in forgiveness, pitying us Like as a father pitieth his children.

NAAMAN:

If there were such a God, I'd worship Him Forever!

Ruahmah:

Then make haste to hear the word His prophet promises to speak to thee!

Obey it, my dear lord, and thou shalt find Healing and peace. The light shall fill thine eyes. Thou wilt not need my leading any more,—

Nor me,—for thou wilt see me, all unveiled,—

I tremble at the thought.

NAAMAN:

Why, what is this?

Why shouldst thou tremble? Art thou not mine own?

RUAHMAH: [Turning to him and speaking in broken words.]

I am,—thy handmaid,—all and only thine,—
The very pulses of my heart are thine!
Feel how they throb to comfort thee to-day—
To-day! Because it is thy time of trouble.

[She takes his hand and puts it to her forehead and her lips, but before she can lay it upon her heart, he draws away from her.]

NAAMAN:

Thou art too dear to injure with a kiss,—
How should I take a gift may bankrupt thee,
Or drain the fragrant chalice of thy love
With lips that may be fatal? Tempt me not
To sweet dishonour; strengthen me to wait
Until thy prophecy is all fulfilled,
And I can claim thee with a joyful heart.

RUAHMAH: [Turning away.]

Thou wilt not need me then,—and I shall be No more than the faint echo of a song Heard half asleep. We shall go back to where We stood before this journey.

NAAMAN:

Never again!

For thou art changed by some deep miracle.

The flower of womanhood hath bloomed in thee,—
Art thou not changed?

Ruahmah:

Yea, I am changed,—and changed

Again,—bewildered,—till there's nothing clear
To me but this: I am the instrument
In an Almighty hand to rescue thee
From death. This will I do,—and afterward—
[A trumpet is blown without.]
Hearken, the trumpet sounds, the chariot waits.

Away, dear lord, follow the road to light!

Scene II*

The house of Elisha, upon a terraced hillside. A low stone cottage with vine-trellises and flowers; a flight of steps, at the foot of which is NAAMAN'S chariot. He is standing in it; SABALLIDIN beside it. Two soldiers come down the steps.

FIRST SOLDIER:

We have delivered my lord's greeting and his message.

SECOND SOLDIER:

Yes, and near lost our noses in the doing of it! For the servant slammed the door in our faces. A most unmannerly reception!

FIRST SOLDIER:

But I take that as a good omen. It is a mark of holy men to keep ill-conditioned servants. Look, the door opens, the prophet is coming.

SECOND SOLDIER:

No, by my head, it is that notable mark of his master's holiness, that same lantern-jawed lout of a servant.

[Gehazi loiters down the steps and comes to Naaman with a slight obeisance.]

^{*}Note that this scene is not intended to be put upon the stage, the effect of the action upon the drama being given at the beginning of Act IV.

GEHAZI:

My master, the prophet of Israel, sends word to Naaman the Syrian,—are you he?—"Go wash in Jordan seven times and be healed."

[Gehazi turns and goes slowly up the steps.]

NAAMAN:

What insolence is this? Am I a man
To be put off with surly messengers?
Has not Damascus rivers more renowned
Than this rude muddy Jordan? Crystal streams,
Abana! Pharpar! flowing smoothly through
A paradise of roses? Might I not
Have bathed in them and been restored at ease?
Come up, Saballidin, and guide me home!

SABALLIDIN:

Bethink thee, master, shall we lose our quest
Because a servant is uncouth? The road
That seeks the mountain leads us through the vale.
The prophet's word is friendly after all;
For had it been some mighty task he set,
Thou wouldst perform it. How much rather then
This easy one? Hast thou not promised her
Who waits for thy return? Wilt thou go back
To her unhealed?

NAAMAN:

No! not for all my pride!

I'll make myself most humble for her sake,

And stoop to anything that gives me hope Of having her. Make haste, Saballidin, Bring me to Jordan. I will cast myself Into that river's turbulent embrace A hundred times, until I save my life Or lose it!

[Exeunt. The light fades: musical interlude. The light increases again with ruddy sunset shining on the door of ELISHA'S house. The prophet appears and looks off, shading his eyes with his hand as he descends the steps. Trumpet blows,—NAAMAN'S call;—sound of horses galloping and men shouting. NAAMAN enters joyously, followed by SABALLIDIN and soldiers, with gifts.]

NAAMAN:

Behold a man delivered from the grave
By thee! I rose from Jordan's waves restored
To youth and vigour, as the eagle mounts
Upon the sunbeam and renews his strength!
O mighty prophet deign to take from me
These gifts too poor to speak my gratitude;
Silver and gold and jewels, damask robes,—

ELISHA: [Interrupting.]

As thy soul liveth I will not receive
A gift from thee, my son! Give all to Him
Whose mercy hath redeemed thee from thy plague.

NAAMAN:

He is the only God! I worship Him!
Grant me a portion of the blessed soil
Of this most favoured land where I have found
His mercy; in Damascus will I build
An altar to His name, and praise Him there
Morning and night. There is no other God
In all the world.

ELISHA:

Thou needst not

This load of earth to build a shrine for Him; Yet take it if thou wilt. But be assured God's altar is in every loyal heart, And every flame of love that kindles there Ascends to Him and brightens with His praise. There is no other God! But evil Powers Make war against Him in the darkened world; And many temples have been built to them.

NAAMAN:

I know them well! Yet when my master goes To worship in the House of Rimmon, I Must enter with him; for he trusts me, leans Upon my hand; and when he bows himself I cannot help but make obeisance too,—But not to Rimmon! To my country's King I'll bow in love and honour. Will the Lord Pardon thy servant in this thing?

ELISHA:

My son,

Peace has been granted thee. 'Tis thine to find The only way to keep it. Go in peace.

NAAMAN:

Thou hast not answered me,—may I bow down? Elisha:

The answer must be thine. The heart that knows
The perfect peace of gratitude and love,
Walks in the light and needs no other rule.
When next thou comest into Rimmon's House,
Thy heart will tell thee how to go in peace.

CURTAIN

ACT IV

Scene I

The interior of Naaman's tent, at night. Ruahmah alone, sleeping on the ground. A vision appears to her through the curtains of the tent: Elisha standing on the hillside at Dothan: Naaman, restored to sight, comes in and kneels before him. Elisha blesses him, and he goes out rejoicing. The vision of the prophet turns to Ruahmah and lifts his hand in warning.

ELISHA:

Daughter of Israel, what dost thou here?
Thy prayer is granted. Naaman is healed:
Mar not true service with a selfish thought.
Nothing remains for thee to do, except
Give thanks, and go whither the Lord commands.
Obey,—obey! Ere Naaman returns
Thou must depart to thine own house in Shechem.

[The vision vanishes.]

Ruahmah: [Waking and rising slowly.]

A dream, a dream, a messenger of God!

O dear and dreadful vision, art thou true?

Then am I glad with all my broken heart.

Nothing remains,—nothing remains but this,—Give thanks, obey, depart,—and so I do.
Farewell, my master's sword! Farewell to you,
My amulet! I lay you on the hilt
His hand shall clasp again: bid him farewell
For me, since I must look upon his face
No more for ever!—Hark, what sound was that?
[Enter soldier hurriedly.]

SOLDIER:

Mistress, an arméd troop, footmen and horse, Mounting the hill!

Ruahman:

My lord returns in triumph.

SOLDIER:

Not so, for these are enemies; they march In haste and silence, answering not our cries.

Ruahman:

Our enemies? Then hold your ground,—on guard! Fight! Defend the pass, and drive them down.

[Exit soldier. Ruahmah draws Naaman's sword from the scabbard and hurries out of the tent. Confused noise of fighting outside. Three or four soldiers are driven in by a troop of men in disguise. Ruahmah follows: she is beaten to her knees, and her sword is broken.]

REZON: [Throwing aside the cloth which covers his face.]
Hold her! So, tiger-maid, we've found your lair
And trapped you. Where is Naaman,
Your master?

RUAHMAH: [Rising, her arms held by two of Rezon's followers.]

He is far beyond your reach.

REZON:

Brave captain! He has saved himself, the leper, And left you here?

Ruahmah:

The leper is no more.

REZON:

What mean you?

Кианман:

He has gone to meet his God.

REZON:

Dead? Dead? Behold how Rimmon's wrath is swift! Damascus shall be mine; I'll terrify
The King with this, and make my terms. But no!
False maid, you sweet-faced harlot, you have lied
To save him,—speak.

RUAHMAH:

I am not what you say, Nor have I lied, nor will I ever speak A word to you, vile servant of a traitor-god.

REZON:

Break off this little flute of blasphemy,
This ivory neck,—twist it, I say!
Give her a swift despatch after her leper!
But stay,—if he still lives he'll follow her,
And so we may ensnare him. Harm her not!
Bind her! Away with her to Rimmon's House!
Is all this carrion dead? There's one that moves,—
A spear,—fasten him down! All quiet now?
Then back to our Damascus! Rimmon's face
Shall be made bright with sacrifice.

[Exeunt, forcing Ruahmah with them. Musical interlude. A wounded soldier crawls from a dark corner of the tent and finds the chain with Naaman's seal, which has fallen to the ground in the struggle.]

WOUNDED SOLDIER:

The signet of my lord, her amulet! Lost, lost! Ah, noble lady,—let me die With this upon my breast.

[The tent is dark. Enter NAAMAN and his company in haste, with torches.]

NAAMAN:

What bloody work
Is here? God, let me live to punish him
Who wrought this horror! Treacherously slain
At night, by unknown hands, my brave companions:

Tsarpi, my best beloved, light of my soul, Put out in darkness! O my broken lamp Of life, where art thou? Nay, I cannot find her.

Wounded Soldier: [Raising himself on his arm.]

Master!

NAAMAN: [Kneels beside him.]

One living? Quick, a torch this way! Lift up his head,—so,—carefully! Courage, my friend, your captain is beside you. Call back your soul and make report to him.

WOUNDED SOLDIER:

Hail, captain! O my captain,—here!

NAAMAN:

Be patient,—rest in peace,—the fight is done. Nothing remains but render your account.

WOUNDED SOLDIER:

They fell upon us suddenly,—we fought
Our fiercest,—every man,—our lady fought
Fiercer than all. They beat us down,—she's gone.
Rezon has carried her away a captive. See,—
Her amulet,—I die for you, my captain.

NAAMAN: [He gently lays the dead soldier on the ground, and rises.]

Farewell. This last report was brave; but strange Beyond my thought! How came the High Priest here? And what is this? my chain, my seal! But this Has never been in Tsarpi's hand. I gave This signet to a captive maid one night,—
A maid of Israel. How long ago?
Ruahmah was her name,—almost forgotten!
So long ago,—how comes this token here?
What is this mystery, Saballidin?

SABALLIDIN:

Ruahmah is her name who brought you hither.

NAAMAN:

Where then is Tsarpi?

SABALLIDIN:

In Damascus.

She left you when the curse of Rimmon fell,— Took refuge in his House,—and there she waits Her lord's return,—Rezon's return.

NAAMAN:

'Tis false!

SABALLIDIN:

The falsehood is in her. She hath been friend With Rezon in his priestly plot to win Assyria's favour,—friend to his design To sell his country to enrich his temple,—And friend to him in more,—I will not name it.

NAAMAN:

Nor will I credit it. Impossible!

SABALLIDIN:

Did she not plead with you against the war, Counsel surrender, seek to break your will?

NAAMAN:

She did not love my work, a soldier's task. She never seemed to be at one with me Until I was a leper.

SABALLIDIN:

From whose hand

Did you receive the sacred cup?

NAAMAN:

From hers.

SABALLIDIN:

And from that hour the curse began to work.

NAAMAN:

But did she not have pity when she saw
Me smitten? Did she not beseech the King
For letters and a guard to make this journey?
Has she not been the fountain of my hope,
My comforter and my most faithful guide
In this adventure of the dark? All this
Is proof of perfect love that would have shared
A leper's doom rather than give me up.
Can I doubt her who dared to love like this?

SABALLIDIN:

O master, doubt her not,—but know her name; Ruahmah! It was she alone who wrought This wondrous work of love. She won the King
To furnish forth this company. She led
Our march, kept us in heart, fought off despair,
Watched over you as if you were her child,
Prepared your food, your cup, with her own hands,
Sang you asleep at night, awake at dawn,—
NAAMAN: [Interrupting.]

Enough! I do remember every hour
Of that sweet comradeship! And now her voice
Wakens the echoes in my lonely breast.
Shall I not see her, thank her, speak her name?
Ruahmah! Let me live till I have looked
Into her eyes and called her my Ruahmah!
[To his soldiers.]

Away! away! I burn to take the road
That leads me back to Rimmon's House,—
But not to bow,—by God, never to bow!

Scene II

TIME: Three days later

Inner court of the House of Rimmon; a temple with huge pillars at each side. In the right foreground the seat of the King; at the left, of equal height, the seat of the High Priest. In the background a broad flight of steps, rising to a curtain of cloudy gray, embroidered with two gigantic hands holding thunderbolts. The temple is in half darkness at first. Enter Khamma and Nubta, robed as Kharimati, or religious dancers, in gowns of black gauze with yellow embroideries and mantles.

Кнамма:

All is ready for the rites of worship; our lady will play a great part in them. She has put on her Tyrian robes, and all her ornaments.

NUBTA:

That is a sure sign of a religious purpose. She is most devout, our lady Tsarpi!

Кнамма:

A favourite of Rimmon, too! The High Priest has assured her of it. He is a great man,—next to the King, now that Naaman is gone.

NUBTA:

But if Naaman should come back, healed of the leprosy?

Кнамма:

How can he come back? The Hebrew slave that went away with him, when they caught her, said that he was dead. The High Priest has shut her up in the prison of the temple, accusing her of her master's death.

NUBTA:

Yet I think he does not believe it, for I heard him telling our mistress what to do if Naaman should return.

Кнамма:

What, then?

NUBTA:

She will claim him as her husband. Was she not wedded to him before the god? That is a sacred bond. Only the High Priest can loose it. She will keep her hold on Naaman for the sake of the House of Rimmon. A wife knows her husband's secrets, she can tell——

[Enter Shumakim, with his flagon, walking unsteadily.]

Кнамма:

Hush! here comes the fool Shumakim. He is never sober. Shumakim: [Laughing.]

Are there two of you? I see two, but that is no proof.

I think there is only one, but beautiful enough for two.

What were you talking to yourself about, fairest one!

Кнамма:

About the lady Tsarpi, fool, and what she would do if her husband returned.

SHUMAKIM:

Fie! fie! That is no talk for an innocent fool to hear.

Has she a husband?

Nubta:

You know very well that she is the wife of Lord Naaman.

SHUMAKIM:

I remember that she used to wear his name and his jewels. But I thought he had exchanged her,—for a leprosy.

Кнамма:

You must have heard that he went away to Samaria to look for healing. Some say that he died on the journey; but others say he has been cured, and is on his way home to his wife.

SHUMAKIM:

It may be, for this is a mad world, and men never know when they are well off,—except us fools. But he must come soon if he would find his wife as he parted from her,—or the city where he left it. The Assyrians have returned with a greater army, and this time they will make an end of us. There is no Naaman now, and the Bull will devour Damascus like a bunch of leeks, flowers and all,—flowers and all, my double-budded fair one! Are you not afraid?

NUBTA:

We belong to the House of Rimmon. He will protect us.

SHUMAKIM:

What? The mighty one who hides behind the curtain there, and tells his secrets to Rezon? No doubt he will take care of you, and of himself. Whatever game is played, the gods never lose. But for the protection of the common people and the rest of us fools, I would rather have Naaman at the head of an army than all the sacred images between here and Babylon.

Кнамма:

You are a wicked old man. You mock the god. He will punish you.

SHUMAKIM: [Bitterly.]

How can he punish me? Has he not already made me a fool? Hark, here comes my brother the High Priest, and my brother the King. Rimmon made us all; but nobody knows who made Rimmon, except the High Priest; and he will never tell.

Gongs and cymbals sound. Enter REZON with priests, and the King with courtiers. They take their seats. A throng of Khali and Kharimati come in, TSARPI presiding; a sacred dance is performed with torches, burning incense, and chanting, in which TSARPI leads.]

CHANT

Hail, mighty Rimmon, ruler of the whirl-storm, Hail, shaker of mountains, breaker-down of forests, Hail, thou who roarest terribly in the darkness,
Hail, thou whose arrows flame across the heavens!
Hail, great destroyer, lord of flood and tempest,
In thine anger almighty, in thy wrath eternal,
Thou who delightest in ruin, maker of desolations,
Immeru, Addu, Barku, Rimmon!
See we tremble before thee, low we bow at thine altar,
Have mercy upon us, be favourable unto us,
Save us from our enemy, accept our sacrifice,
Barku, Immeru, Addu, Rimmon!
[Silence follows, all bowing down.]

REZON:

O King, last night the counsel from above Was given in answer to our divination. Ambassadors must go forthwith to crave Assyria's pardon, and a second offer Of the same terms of peace we did reject Not long ago.

BENHADAD:

Dishonour! Yet I see

No other way! Assyria will refuse,
Or make still harder terms. Disaster, shame
For this gray head, and ruin for Damascus!

Rezon:

Yet may we trust Rimmon will favour us, If we adhere devoutly to his worship.

He will incline his brother-god, the Bull,
To spare us, if we supplicate him now
With costly gifts. Therefore I have prepared
A sacrifice: Rimmon shall be well pleased
With the red blood that bathes his knees to-night!

BENHADAD:

My mind is dark with doubt,—I do forebode

Some horror! Let me go,—I am an old man,—

If Naaman my captain were alive!

But he is dead,—the glory is departed!

[He rises, trembling, to leave the throne. Trumpet sounds,—Naaman's call;—enter Naaman, followed by soldiers; he kneels at the foot of the throne.]

BENHADAD: [Half-whispering.]

Art thou a ghost escaped from Allatu? How didst thou pass the seven doors of death? O noble ghost I am afraid of thee, And yet I love thee,—let me hear thy voice!

NAAMAN:

No ghost, my King, but one who lives to serve Thee and Damascus with his heart and sword As in the former days. The only God Has healed my leprosy: my life is clean To offer to my country and my King.

BENHADAD: [Starting toward him.]
O welcome to thy King! Thrice welcome!

REZON: [Leaving his seat and coming toward NAAMAN.]

Stay!

The leper must appear before the priest, The only one who can pronounce him clean.

[NAAMAN turns; they stand looking each other in the face.]

Yea,—thou art cleansed: Rimmon hath pardoned thee,—In answer to the daily prayers of her Whom he restores to thine embrace,—thy wife.

[Tsarpi comes slowly toward Naaman.]

NAAMAN:

From him who rules this House will I receive Nothing! I seek no pardon from his priest, No wife of mine among his votaries!

TSARPI: [Holding out her hands.]

Am I not yours? Will you renounce our vows?

NAAMAN:

The vows were empty,—never made you mine
In aught but name. A wife is one who shares
Her husband's thought, incorporates his heart
With hers by love, and crowns him with her trust.
She is God's remedy for loneliness,
And God's reward for all the toil of life.
This you have never been to me,—and so
I give you back again to Rimmon's House
Where you belong. Claim what you will of mine,—

Not me! I do renounce you,—or release you,—According to the law. If you demand A further cause than what I have declared, I will unfold it fully to the King.

REZON: [Interposing hurriedly.]

No need of that! This duteous lady yields To your caprice as she has ever done: She stands a monument of loyalty And woman's meekness.

NAAMAN:

Let her stand for that!
Adorn your temple with her piety!
But you in turn restore to me the treasure

You stole at midnight from my tent.

REZON:

What treasure! I have stolen none from you.

NAAMAN:

The very jewel of my soul,—Ruahmah!
My King, the captive maid of Israel,
To whom thou didst commit my broken life
With letters to Samaria,—my light,
My guide, my saviour in this pilgrimage,—
Dost thou remember?

BENHADAD:

I recall the maid.—

But dimly,—for my mind is old and weary.

She was a fearless maid, I trusted her

And gave thee to her charge. Where is she now?

NAAMAN:

This robber fell upon my camp by night,—
While I was with Elisha at the Jordan,—
Slaughtered my soldiers, carried off the maid,
And holds her somewhere in imprisonment.
O give this jewel back to me, my King,
And I will serve thee with a grateful heart
For ever. I will fight for thee, and lead
Thine armies on to glorious victory
Over all foes! Thou shalt no longer fear
The host of Asshur, for thy throne shall stand
Encompassed with a wall of dauntless hearts,
And founded on a mighty people's love,
And guarded by the God of righteousness.

BENHADAD:

I feel the flame of courage at thy breath
Leap up among the ashes of despair.
Thou hast returned to save us! Thou shalt have
The maid; and thou shalt lead my host again!
Priest, I command you give her back to him.

REZON:

O master, I obey thy word as thou Hast ever been obedient to the voice Of Rimmon. Let thy fiery captain wait Until the sacrifice has been performed, And he shall have the jewel that he claims. Must we not first placate the city's god With due allegiance, keep the ancient faith,
And pay our homage to the Lord of Wrath?

Benhadad: [Sinking back upon his throne in fear.]
I am the faithful son of Rimmon's House,—
And lo, these many years I worship him!
My thoughts are troubled,—I am very old,
But still a King! O Naaman, be patient!
Priest, let the sacrifice be offered.

[The High Priest lifts his rod. Gongs and cymbals sound. The curtain is rolled back, disclosing the image of Rimmon; a gigantic and hideous idol, with a cruel human face, four horns, the mane of a lion, and huge paws stretched in front of him enclosing a low altar of black stone. Ruahmah stands on the altar, chained, her arms are bare and folded on her breast. The people prostrate themselves in silence, with signs of astonishment and horror.]

REZON:

Behold the sacrifice! Bow down, bow down!

NAAMAN: [Stabbing him.]

Bow thou, black priest! Down,—down to hell! Ruahmah! do not die! I come to thee.

[Naaman rushes toward her, attacked by the priests, crying "Sacrilege! Kill him!" But the soldiers stand on the steps and beat them back. He springs upon the altar and clasps her by the hand. Tumult

and confusion. The King rises and speaks with a loud voice, silence follows.]

BENHADAD:

Peace, peace! The King commands all weapons down! O Naaman, what wouldst thou do? Beware Lest thou provoke the anger of a god.

NAAMAN:

There is no God but one, the Merciful, Who gave this perfect woman to my soul That I might learn through her to worship Him, And know the meaning of immortal Love.

BENHADAD: [A gitated.]

Yet she is consecrated, bound, and doomed
To sacrificial death; but thou art sworn
To live and lead my host,—Hast thou not sworn?

NAAMAN:

Only if thou wilt keep thy word to me!

Break with this idol of iniquity

Whose shadow makes a darkness in the land;

Give her to me who gave me back to thee;

And I will lead thine army to renown

And plant thy banners on the hill of triumph.

But if she dies, I die with her, defying Rimmon.

[Cries of "Spare them! Release her! Give us back our Captain!" and "Sacrilege! Let them die!" Then silence, all turning toward the King.]

BENHADAD:

Is this the choice? Must we destroy the bond
Of ancient faith, or slay the city's living hope!
I am an old, old man,—and yet the King!
Must I decide?—O let me ponder it!
[His head sinks upon his breast. All stand eagerly looking at him.]

NAAMAN:

Ruahmah, my Ruahmah! I have come To thee at last! And art thou satisfied? Ruahmah: [Looking into his face.]

Belovéd, my belovéd, I am glad

Of all, and glad for ever, come what may.

Nothing can harm me,—since my lord is come!

FINIS







INDEX OF FIRST LINES

| | | IAGE |
|---|---|------|
| A fir-tree standeth lonely | | 299 |
| A flawless cup: how delicate and fine | | 351 |
| A little fir grew in the midst of the wood | | 131 |
| A little while the rose | | 354 |
| A silent world,—yet full of vital joy | | 82 |
| A silken curtain veils the skies | | 42 |
| A tear that trembles for a little while | | 23 |
| A wreath of poppy flowers | | 290 |
| Across a thousand miles of sea, a hundred leagues of land . | | 278 |
| Afterthought of summer's bloom! | | 43 |
| Ah, who will tell me, in these leaden days | | 34 |
| All day long in the city's canyon-street | | 191 |
| All night long, by a distant bell | | 325 |
| All the trees are sleeping, all the winds are still, | | 318 |
| Although you eat me to the root | | 356 |
| At dawn in silence moves the mighty stream | | 46 |
| At sunset, when the rosy light was dying | | 29 |
| Blessed is the man that beholdeth the face of a friend in a far | | |
| country | | 363 |
| country | • | 303 |
| Children of the elemental mother | | 152 |
| Come, give me back my life again, you heavy-handed Death! | • | 102 |
| Could every time-worn heart but see Thee once again | • | 330 |
| Count not the cost of honour to the dead! | | 164 |
| Count not the cost of honour to the dead: | • | 104 |
| Daughter of Psyche, pledge of that wild night | | 231 |
| Dear Aldrich, now November's mellow days | | 223 |
| Dear to my heart are the ancestral dwellings of America | | 141 |
| Dear tranquil Habit, with her silent hands | | 291 |
| Deep in the heart of the forest the lily of Yorrow is growing. | | 53 |
| "Do you give thanks for this?—or that?" No, God be thanked | ď | 315 |
| Do you remember, father,— | _ | 10 |
| Does the snow fall at sea? | • | 45 |
| Does the show that he seat | | 45 |

| | PAGE |
|---|------|
| Fair Roslin Chapel, how divine | 49 |
| Flowers rejoice when night is done | 24 |
| For that thy face is fair I love thee not | 263 |
| Four things a man must learn to do | 360 |
| From the misty shores of midnight, touched with splendours of the | • |
| moon | 214 |
| Furl your sail, my little boatie | 307 |
| Glory of architect, glory of painter, and sculptor, and bard | 246 |
| Great Nature had a million words | 249 |
| Hear a word that Jesus spake | 67 |
| Heart of France for a hundred years | 216 |
| Her eyes are like the evening air | 277 |
| Hours fly | 341 |
| How blind the toil that burrows like the mole | 213 |
| How long is the night, brother | 276 |
| How long the echoes love to play | 27 |
| How wonderful are the cities that man hath builded | 367 |
| I count that friendship little worth | 314 |
| I envy every flower that blows | 271 |
| I love the hour that comes, with dusky hair | 48 |
| I love thine inland seas | 140 |
| I put my heart to school | 31 |
| I read within a poet's book | 261 |
| I think of thee when golden sunbeams glimmer | 298 |
| I will sing of the bounty of the big trees | 369 |
| I would not even ask my heart to say | 139 |
| If all the skies were sunshine | 30 |
| If I have erred in showing all my heart | 284 |
| If on the closed curtain of my sight | 264 |
| In a great land, a new land, a land full of labour and riches and | |
| confusion | 219 |
| In mirth he mocks the other birds at noon | 351 |
| In robes of Tyrian blue the King was drest | 125 |
| In warlike pomp, with banners flowing | 40 |
| Into the dust of the making of man | 160 |
| It pleased the Lord of Angels (praise His name!) | 106 |
| It's little I can tell | 265 |
| | 3 |

| INDEX OF FIRST LINES | 465 |
|---|-------|
| | PAGE |
| "Joy is a Duty,"—so with golden lore | |
| Joyful, joyful, we adore Thee | . 332 |
| Just to give up, and trust | . 329 |
| Knight-Errant of the Never-ending Quest | . 212 |
| Let me but do my work from day to day | . 256 |
| Let me but feel thy look's embrace | . 268 |
| Let me but live my life from year to year | . 258 |
| Let me but love my love without disguise | . 257 |
| Life is an arrow—therefore you must know | . 359 |
| Like a long arrow through the dark the train is darting | . 272 |
| Limber-limbed, lazy god, stretched on the rock | . 351 |
| Long ago Apollo called to Aristæus, youngest of the shepherds | . 111 |
| Long had I loved this "Attic shape," the brede | . 349 |
| Long, long ago I heard a little song | . 323 |
| Long, long, long the trail | . 50 |
| Lord Jesus, Thou hast known | . 300 |
| Lover of beauty, walking on the height | . 207 |
| Man the maker of cities is also a builder of altars | . 372 |
| March on, my soul, nor like a laggard stay! | . 331 |
| Mine enemies have prevailed against me, O God: | . 371 |
| Mother of all the high-strung poets and singers departed | . 20 |
| | |
| Not to the swift, the race | . 259 |
| Now in the oak the sap of life is welling | . 38 |
| O garden isle, beloved by Sun and Sea | . 161 |
| O mighty river! strong, eternal Will | . 360 |
| O morning star, farewell! | . 355 |
| O who will walk a mile with me | . 255 |
| O wonderful! How liquid clear | |
| O youngest of the giant brood | . 157 |
| Oh, quick to feel the lightest touch | . 225 |
| Oh, was I born too soon, my dear, or were you born too late. | |
| Oh, what do you know of the song, my dear | . 248 |
| Oh, why are you shining so bright, big Sun | . 279 |
| Often I dream your big blue eyes | . 280 |
| On the old old bridge with its crumbling stones | |

| | | | | | PAGE |
|--|-----|-----|---|---|------------|
| Once, only once, I saw it clear,— | | | | | 280 |
| | | | | | 144 |
| Only a little shrivelled seed | | | | | 316 |
| Our silent eyes alone interpreted | | | | | 293 |
| | | | | | |
| Remember, when the timid light | | | ٠ | • | 286 |
| Saints are God's flowers, fragrant souls | | | | | 311 |
| Self is the only prison that can ever bind the soul | | | | | 358 |
| Seven pupils, in the class | | | | | 356 |
| Seven pupils, in the class | | | | | 228 |
| Stand back, ye messengers of mercy! Stand | | | | | 159 |
| Sweet in summer, cups of snow | | | | | 355 |
| and the same of th | • | ٠ | • | • | 333 |
| The British bard who looked on Eton's walls | | | | | 183 |
| The cornerstone in Truth is laid | • | • | • | • | - |
| The cradle I have made for thee | | • | • | • | 343 288 |
| The fire of love was burning, yet so low | | | • | • | |
| The mie of love was burning, yet so lov | • | • | • | • | 317 |
| The grief that is but feigning | • | • | • | | 352 |
| The lizard rested on the rock while I sat among the rule | : | • | ٠ | • | 162 |
| The Land is new teacher | ms | | • | • | 376 |
| The Lord is my teacher | • | • | • | • | 378 |
| The melancholy gift Aurora gained | ٠ | : | • | • | 211 |
| The moonbeams over Arno's vale in silver flood were p | our | ıng | 5 | • | 22 |
| The mountains that inclose the vale | ٠ | • | • | • | 260 |
| The nymphs a shepherd took | • | ٠ | • | • | 353 |
| The other night I had a dream, most clear | • | • | • | ٠ | 119 |
| The record of a faith sublime | | | • | | 215 |
| | • | | • | • | 300 |
| | | | | | 374 |
| The roar of the city is low | | | | | 154 |
| The shadow by my finger cast | | | | | 345 |
| The time will come when I no more can play | | | | | 250 |
| The ways of the world are full of haste and turmoil . | | | | | 377 |
| The worlds in which we live at heart are one | | | | | 357 |
| There are many kinds of love, as many kinds of light | | | | | 359 |
| There are songs for the morning and songs for the nigh | | | | | 25 |
| There is a bird I know so well | | | | | 13 |
| There's no one here; the garden is asleep | | | | | 383 |
| This is the soldier brave enough to tell | | | | | 166 |
| | • | | | • | -00 |

| INDEX OF FIRST LINES 467 |
|---|
| PAGI |
| This is the thanksgiving of the weary |
| This is the window's message |
| Thou hast taken me into thy tent of the world, O God 370 |
| Thou who hast made thy dwelling fair |
| "Through many a land your journey ran |
| 'Tis fine to see the Old World, and travel up and down 16; |
| To thee, plain hero of a rugged race |
| 'Twas far away and long ago |
| 'Twas far away and long ago |
| Two hundred years of blessing I record |
| "Two things," the wise man said, "fill me with awe 348 |
| Waking from tender sleep |
| Waking from tender sleep |
| We met on Nature's stage |
| Well, you will triumph, dear and noble friend! |
| What shall I give for thee |
| What time the rose of dawn is laid across the lips of night |
| When down the stair at morning |
| When down the stair at morning |
| When May bedecks the naked trees |
| When the frosty kiss of Autumn in the dark |
| When the frosty kiss of Autumn in the dark |
| When tulips bloom in Union Square |
| Where's your kingdom, little king? |
| Where's your kingdom, little king? |
| Who seeks for heaven alone to save his soul |
| Who watched the worn-out Winter die? |
| |
| With eager heart and will on fire |
| |
| With two bright eyes, my star, my love |
| Wordsworth, thy music fixe a fiver folis |
| Yes, it was like you to forget |
| You only promised me a single hour |
| Yours is a garden of old-fashioned flowers |





UNIVERSITY OF CALIFORNIA LIBRARY BERKELEY

Return to desk from which borrowed.

This book is DUE on the last date stamped below.

| V 24 1947 | REC'D LD | 21 OCT '60BS | |
|----------------------|------------------------|--------------|---|
| 153 | AUG 1 3 1957 | CT 23 1960 | |
| JUN 15 | 11Sep'57RB | 5) | P |
| 18Jun'53LWP | a acin has not not | . Md | 1 |
| JUN 71953 LL | | 9- 8/ | |
| 23 _{0ct′53} | 5jan'58GCX | JAN 9 | |
| 991.3 10 1941511 | DEC 31 1958 | 9 | |
| 17 Aug 57F H | 9Feb'59BP JAN 25 1959 | 1 1 1 1 2 51 | 6 |
| | | | |



